:॥

की गौरव-गाथा

विद्यालय की प्रथमा परीक्षा
(स्वीकृत)

लेखक

प्रो० उमाशंकर तिवारी

सम्पादक

डॉ० शम्भुनाथ सिंह

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६९

विषय सूची

प्राचीन भारत की गौरव-गाथा

प्रह्लाद

भारत अनादिकाल से धर्मप्राण देश रहा है। इस देश में धर्म का अर्थ था मनुष्यता और नैतिकता। समाज के लोगों को मनुष्यता और नैतिकता के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए भगवान भी इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, यह मान्यता इस देश में बहुत पहले से चली आ रही है। पृथ्वी के प्राणियों की रक्षा करना भगवान का कर्तव्य है क्योंकि उसीने उन्हें उत्पन्न किया है। भारतीय विश्वास है कि अपने इसी कर्तव्य का पालन करने के लिए भगवान को सृष्टि के आदिकाल से लेकर अब तक दस बार पृथ्वी पर विभिन्न रूपों में अवतरित होना पड़ा। कभी उन्होंने शेषनाग, कच्छप या वराह रूप में अवतार ग्रहण किया तो कभी नृसिंह (आधा मानव, आधा सिंह) या वामन रूप में, कभी परशुराम या राम रूप में तो कभी कृष्ण और कल्कि रूप में। भगवान बुद्ध को भी एक अवतार मान लिया गया है। भक्त प्रह्लाद की कथा का सम्बन्ध भी भगवान के एक अवतार से ही है जिसे नृसिंहावतार कहा जाता है। भगवान ने इसी प्रह्लाद की सत्यनिष्ठा की रक्षा के लिए समाज के शत्रुओं का नाश करना आवश्यक समझा और इसीलिए नृसिंह रूप में अवतार धारण किया।

देवता और असुर एक ही समाज के थे। देवता लोग मानवता के पुजारी थे जब कि असुर, जिन्हें दिति से उत्पन्न होने के कारण दैत्य कहा जाता है, मानवता के मूल पर कुठाराघात करने वाले पापाचारी थे। प्रह्लाद का पिता हिरण्यकशिपु दैत्यों का राजा

था। वह बड़ा ही क्रूर, अत्याचारी और समाज-विरोधी था। वह भगवान का नाम भी सुनना पसन्द नहीं करता था क्योंकि वह अपने को ही भगवान् मानता था। एकबार ब्रह्मा ने उसे यह वरदान दे दिया था कि उसको मनुष्य, देवता, राक्षस, पशु-पक्षी में से कोई भी न मार सकेगा; वह न धरती पर मरेगा, न आकाश में, न पाताल में; न दिन में, न रात में। इस वरदान के कारण हिरण्यकशिपु को अभिमान हो गया था कि वह चाहे जितना भी अत्याचार करे, उसको कोई मार नहीं सकता। इसी कारण सभी लोग उससे डरते रहते थे। उसके राज्य में देवता, ऋषि, ब्राह्मण और पृथ्वी अत्यन्त पीड़ित और त्रस्त थे। जब उसका अत्याचार असह्य हो गया तो एक दिन ये सभी मिल कर भगवान विष्णु के पास गये और अपने दुःखों का वर्णन किया। भगवान ने उन्हें आश्वासन दिया कि हिरण्यकशिपु को एक पुत्र होगा जो उसके नाश का कारण होगा। विष्णु भगवान का आश्वासन पाकर सब लौट आये।

समय आने पर हिरण्यकशिपु की पत्नी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम प्रह्लाद रखा गया। भगवान की प्रेरणा से उत्पन्न होने के कारण प्रह्लाद में अपने पिता के संस्कार एकदम नहीं थे। दैत्यकुल में उत्पन्न होकर भी वह देव-सुलभ संस्कारों वाले थे। वे बचपन से ही भगवान के भक्त थे। वे स्वयं तो भगवान के नाम का कीर्तन करते ही थे, असुर बालकों को एकत्र करके उनसे भी भगवान के नाम का जप कराते थे। सभी बालक उनके अनुयायी बन गये और उन्हीं की तरह भगवान की भक्ति करने लगे। जब यह बात हिरण्यकशिपु को मालूम हुई तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने प्रह्लाद को बुलवाया

और उनसे पूछा कि तुम मेरी भक्ति न करके विष्णु भगवान की भक्ति क्यों करते हो? प्रह्लाद ने उलटे अपने पिता को ही समझाना शुरू किया, 'पिताजी, भगवान विष्णु इस संसार के पालनकर्ता हैं, वही प्राणी मात्र के स्वामी हैं। हम सब लोगों को उन्हीं का स्मरण, उन्हीं का कीर्तन और उन्हीं की भक्ति करनी चाहिये। आप भी ऐसा क्यों नहीं करते?' हिरण्यकशिपु ने उन्हें बहुत समझाया पर वे न माने। तब उसने उन्हें डराना-धमकाना शुरू किया। पर उसका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। प्रह्लाद भगवान की भक्ति से तिल मात्र भी विचलित नहीं हुए।

अब हिरण्यकशिपु के क्रोध की सीमा नहीं रही। उसने एक दिन प्रह्लाद को बुलवाया और उन्हें उठा कर पृथ्वी पर पटक दिया। किन्तु जब भगवान स्वयं प्रह्लाद की रक्षा कर रहे थे तो उनका क्या बिगड़ सकता था? पिता द्वारा भूमि पर निर्दयतापूर्वक पटके जाने पर उन्हें ऐसा लगा जैसे किसी ने उन्हें उठा कर फूलों की शय्या पर रख दिया हो। अंग-भंग होना तो दूर, उन्हें हलकी चोट भी नहीं लगी। यह देख कर हिरण्यकशिपु और भी क्रुद्ध हो गया। उसने बधिक को बुला कर आदेश दिया कि बालक को तुरन्त तलवार से मार डालो। बधिक ने प्रह्लाद पर तलवार से वार करना शुरू किया। किन्तु सब लोग यह देख कर चकित रह गये कि तलवार की धार प्रह्लाद के शरीर पर खरोंच भी नहीं पैदा कर सकी। बधिक जब वार करते थक गया तो उसने हार मान ली। यह देख कर हिरण्यकशिपु का क्रोध चरम-सीमा पर पहुँच गया। उसने नया आदेश दिया कि प्रह्लाद को पागल हाथी के पैरों के नीचे डाल कर कुचलवा दिया जाय। ऐसा ही किया गया। पर आश्चर्य, कुचलना तो दूर वह

पागल हाथी प्रह्लाद को प्यार करने लगा और उनके सामने सेवक की तरह झुक गया। इसके बाद हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को मारने के लिए तरह-तरह के उपाय किये। पहले उन्हें सांपों से डँसवाया गया। जब उन पर विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो उन्हें पहाड़ की ऊँची चोटी से नीचे ढकेल दिया गया। किन्तु इसका भी कोई प्रभाव नहीं हुआ। फिर उसने प्रह्लाद को मारने के लिए कृत्या नामक राक्षसी और शंबर नामक असुर को नियुक्त किया। ये भी प्रह्लाद का बाल बांका न कर सके। अन्त में हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को एक कोठरी में बन्द कर दिया। वहां उन्हें विष दिया गया। जब वे विष से भी नहीं मरे तो उन्हें खाना देना बन्द कर दिया गया। पर इसका भी कोई फल नहीं हुआ।

इतने उपायों को असफल होते देख हिरण्यकशिपु बौखला गया। उसने आदेश दिया कि बर्फ में गड्ढा खोद कर उसमें प्रह्लाद को दबा दिया जाय। यह प्रयत्न भी व्यर्थ गया। फिर उन्हें तेज आँधी में छोड़ दिया गया ताकि आँधी उन्हें उड़ा ले जाय। यह आँधी भी उनका कुछ न कर सकी। अन्त में हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को जीते ही आग में जला डालने का यत्न किया। हिरण्यकशिपु की एक बहिन थी। उसका नाम होलिका था। उसे यह वरदान प्राप्त था कि वह आग में नहीं जल सकेगी। हिरण्यकशिपु ने होलिका से कहा कि वह प्रह्लाद को गोद में लेकर जलती चिता में बैठ जाय। होलिका ने ऐसा ही किया। किन्तु सबको यह देख कर आश्चर्य हुआ कि चिता में प्रवेश करते ही होलिका तो जल गयी किन्तु प्रह्लाद ज्यों के त्यों मुस्कराते हुए बैठे रहे और बाद में आग से बाहर निकल आये।

यह सब देखकर हिरण्यकशिपु आतंकित हो गया। उसे अपना पुत्र ही अपना शत्रु प्रतीत होने लगा। उसने प्रह्लाद के न मरने का रहस्य जानने के लिए अपने ही हाथ से उनका बध करने का निश्चय किया। उसने आज्ञा दी कि प्रह्लाद को महल के बरामदे के खम्भे में बाँध दिया जाय। ऐसा हो जाने पर वह गदा लेकर पुत्र बध करने के लिए उसके पास गया और धमकाते हुए बोला :—'मैं आज स्वयं तुम्हारा बध करूँगा। देखता हूँ कि तुम्हारे भगवान तुम्हारी रक्षा कैसे करते हैं। बुलाओ, कहाँ हैं तुम्हारे भगवान।'

सत्याग्रही प्रह्लाद ने निर्भीक भाव से उत्तर दिया—'पिता जी, मेरे भगवान मेरे ही नहीं, आपके और सब के हैं। वे सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं। वे मुझमें हैं, आप में हैं, इस खम्भे में हैं, कण-कण में हैं।'

यह सुनते ही हिरण्यकशिपु क्रोध से आगबबूला हो गया। उसने गदा उठा कर प्रह्लाद पर प्रहार किया। ठीक उसी समय जोरों की आवाज़ के साथ वह खम्भा फट गया। जिसमें प्रह्लाद को बाँधा गया था। उस खम्भे के भीतर से एक भयावनी मूर्ति निकली जिसका आधा भाग मानव का और आधा सिंह का था। वह न तो सिंह था, न मानव। वह दोनों प्राणियों का संयुक्त रूप था। उस नृसिंह ने झपट कर हिरण्यकशिपु को दबोच लिया और उसे अपने जंघे पर रखकर उसकी छाती में अपने सिंह वाले नाखून धँसा दिये। छाती फाड़ने के पहले भगवान नृसिंह ने हिरण्यकशिपु से पूछा, 'बोलो, क्या मैं मनुष्य हूँ ?' हिरण्यकशिपु ने कहा—'नहीं'। इसी तरह नृसिंह भगवान ने पूछा 'क्या मैं पशु हूँ ? क्या मैं देवता, या राक्षस हूँ ? क्या यह दिन है

या रात ? क्या मैं तुम्हें किसी अस्त्र से मार रहा हूँ ? क्या तुम पृथ्वी पर हो या आकाश में ? क्या तुम पाताल में हो ? क्या मैं तुम्हें किसी अस्त्र से मार रहा हूँ ?' हिरण्यकशिपु ने 'नहीं नहीं' में सबका उत्तर दिया। तब भगवान ने अपने तेज नाखून से उसकी छाती और पेट फाड़ डाला। तत्काल उसका प्राणान्त हो गया। इस तरह जिस अत्याचारी दैत्य के पाप कर्म के असह्य भार से पृथ्वी दबी जा रही थी उसका अन्त हुआ।

किन्तु ब्रह्मा ने उसे जो वरदान दिया था वह भी झूठा नहीं होने पाया। ब्रह्मा का वर यह था कि हिरण्यकशिपु को कोई प्राणी नहीं मार सकेगा। नृसिंह कोई प्राणी नहीं है। केवल नर या केवल सिंह होने से उसे प्राणी की संज्ञा दी जा सकती है। ब्रह्मा के इस वचन का पालन करने के लिये ही भगवान विष्णु ने नृसिंह रूप धारण किया। ब्रह्मा ने हिरण्यकशिपु को यह वरदान भी दिया था कि वह न किसी अस्त्र से मरेगा, न आकाश, पाताल, पृथ्वी पर मरेगा और न दिन या रात के किसी समय में मरेगा। ब्रह्मा के वचन भी भंग नहीं होने पाये। नृसिंह भगवान ने हिरण्यकशिपु को अपने तेज नाखून से फाड़ डाला। नाखून कोई अस्त्र नहीं है। जिस समय वह मरा, वह गोधूलि वेला थी, जो न दिन में है न रात में। भगवान ने उसे अपने जंघे पर रख कर मारा था। इस तरह वह न तो आकाश में मारा गया, न पाताल में और न धरती पर।

हिरण्यकशिपु का वध करके भगवान ने एक ओर अपने अनन्य भक्त प्रह्लाद की रक्षा की, दूसरी ओर ब्रह्मा के वचन की मर्यादा भी नहीं भंग होने दी। अपने भगवान को अपने सामने उपस्थित देख कर प्रह्लाद आनन्द-विभोर हो उठे। वे भगवान के

चरणों पर गिर पड़े। भगवान ने उन्हें उठा कर गले से लगा लिया और फिर अन्तर्धान हो गये। उसके बाद प्रह्लाद ने राज्य का भार अपने ऊपर लिया तथा सत्य-निष्ठा और धर्माचरण के पथ पर चलते हुए चिरकाल तक राज्य करते रहे।

प्रह्लाद का चरित्र हमारे सम्मुख यह आदर्श उपस्थित करता है कि हमारे भीतर सत्य के प्रति अदम्य विश्वास होना चाहिए। यदि हमारा विश्वास अडिग रहेगा तो हमें संसार की कोई शक्ति भयभीत या पराजित नहीं कर सकती। इस कथा से हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि हमें दृढ़व्रती होना चाहिये और उस व्रत के पालन में चाहे जितनी भी बाधायें आयें, चाहे जो भी दुःख उठाने पड़ें, सबको निर्भय होकर झेलना चाहिये क्योंकि शरीर नष्ट हो जायेगा तो पुनर्जन्म होने पर पुनः प्राप्त हो जायेगा पर धर्म नष्ट होने पर सर्वस्व नष्ट हो जायेगा। इसीलिए हमारे शास्त्रों में कहा गया है—

'धर्मो रक्षति रक्षितः'

दधीचि

भारतीय संस्कृति में त्याग, तपस्या और लोकहित के लिए दान को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। प्राचीन भारतीय मनीषियों और महात्माओं ने अपने चरित् द्वारा इन मानवीय गुणों के जो आदर्श उपस्थित किये हैं, वे मानव-समाज के लिए आज भी अनुकरणीय हैं। महर्षि दधीचि का नाम उन आदर्श पुरुषों में अग्रगण्य है।

दधीचि सारस्वत प्रदेश में महर्षि भृगु के कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पैदा होने के समय प्रकृति में विचित्र घटनायें घटीं, नक्षत्रों की ज्योति बढ़ गयी, नदियों में बाढ़ आ गयी और बनस्पतियाँ फल-फूलों से लद गयीं। बालक दधीचि को अभूतपूर्व शरीर मिला था। वे सामान्य बालकों से कई गुना बड़े और हट्टे-कट्टे थे। अवस्था बढ़ने के साथ उनका शरीर भी बराबर बढ़ता गया। बाल्यावस्था पार करते ही वे पर्वतशिखर के बराबर लम्बे और विशाल हो गये। वे परम सुन्दर भी थे किन्तु उनकी सुन्दरता जितना प्रभाव डालती थी, उनके शरीर का आकार उतना ही आतंक उत्पन्न करता था।

विशाल शरीर के अनुरूप ही दधीचि को विशाल हृदय और तीक्ष्ण मेधा भी प्राप्त थी। इसी कारण जो उनके निकट सम्पर्क में आता था, वह उनकी सदाशयता, विद्वत्ता और सेवा-भावना से प्रभावित होकर उनका वशीभूत हो जाता था। कुछ ही दिनों में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया और कुरु प्रदेश

में सरस्वती नदी के तट पर एक बहुत बड़े आश्रम का निर्माण किया। अपने आश्रम को वृक्षों और वनस्पतियों से पूर्ण सुसज्जित कर लेने के बाद दधीचि तपस्या की ओर उन्मुख हुए। उनकी तपस्या उत्तरोत्तर कठोर होती गयी और वे ध्यान में इतने लीन हो गए कि वन के पक्षी उनकी जटा में घोंसला बनाने लगे और उनकी विशाल बाहों और लम्बी नाक को वृक्ष की शाखा समझ कर क्रीड़ा करने लगे। दधीचि पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

उनकी उग्र तपस्या का प्रभाव इतना बढ़ गया कि देवराज इन्द्र को चिन्ता उत्पन्न हो गयी। यद्यपि महान् ऋषियों और तपस्वियों की तपस्या और साधना का लक्ष्य स्वर्ग प्राप्त करना नहीं बल्कि मुक्ति और ज्ञान प्राप्त करना होता है। फिर भी देवराज इन्द्र को यही शंका रहती थी कि कहीं अपनी तपस्या की सिद्धि के रूप में ये लोग स्वर्ग के स्वामी न बन जाएँ। इसीलिए इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओं की सहायता से मायाजाल फैलाकर ऋषि-मुनियों का तप भंग कर देते थे। दधीचि का तप-भंग करने की भी उन्हें चिन्ता हुई।

उन्होंने अनेक ऋषियों और मुनियों द्वारा दधीचि के पास यह संदेश भेजा कि वह तपस्या से विरत हो जाँय। दधीचि ने इन्द्र से कहला दिया कि वे स्वर्ग का अधिपति नहीं बनना चाहते। वे तो मुक्ति के लिए तप कर रहे हैं।

किन्तु इन्द्र को दधीचि की बातों पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने येनकेन प्रकारेण दधीचि के तप को भंग करने का निश्चय कर लिया। एक दिन इन्द्र ने स्वर्ग की सर्वसुन्दरी अप्सरा

अलुम्बशा को दधीचि के आश्रम में भेजा और यह आदेश दिया कि वह अपने सौन्दर्य और कला द्वारा दधीचि को तपोभ्रष्ट कर दे। अलुंम्बशा दधीचि के आश्रम में जाकर उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने लगी। जब दधीचि सरस्वती नदी में स्नान करने गए तो उसी समय अलुम्बशा उनके सम्मुख उपस्थित हुई। दधीचि ने ऐसी सुन्दरी नारी कभी नहीं देखी थी। उनका मन सहज ही उसके रूप पर मुग्ध हो गया। कुछ क्षण के लिए सरस्वती नदी के भीतर ही वे मनसा ब्रह्मचर्य से च्युत हो गये पर शीघ्र ही अलुम्बशा की ओर से उन्होंने अपना ध्यान हटा लिया और फिर ध्यानस्थ हो गये। अलुम्बशा असफल होकर स्वर्गलोक में लौट गयी।

किन्तु महर्षि दधीचि के समागम से सरस्वती नदी गर्भवती हो गयी। समय आने पर सरस्वती को पुत्र प्राप्त हुआ। सरस्वती उसे लेकर दधीचि के पास गयीं और कहा—'महर्षि! यह आप ही का पुत्र है जो मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है। इसे ग्रहण कीजिए।' इतना कहकर उसने अपने गर्भाधान की पूरी कथा बता दी। महर्षि अनायास पुत्र प्राप्ति पर बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें इस बात का सन्तोष हुआ कि उनके पूर्वजों का कुल आगे बढ़ सकेगा।

पुत्र-प्राप्ति के उपरान्त दधीचि उत्तरोत्तर सन्तति-मोह और गृहस्थी की झंझटों में फँसते गए। फलस्वरूप उनकी तपस्या क्षीण हो गयी। इससे इन्द्र का यह भय निर्मूल हो गया कि दधीचि कभी इन्द्र पद भी छीन सकेंगे। दधीचि ने अपने पुत्र को वेदशास्त्रों का विधिवत् अध्ययन कराया। साथ ही वे अपने आश्रम में वेदशास्त्रों का अध्यापन भी करते थे। इस प्रकार

वैदिक ऋषियों के ज्ञान और विद्या की परम्परा को वे निरन्तर आगे बढ़ाते रहे।

दधीचि को इतने विशाल आकार और इतने महत्तम गुणों की प्राप्ति अकारण ही नहीं हुई थी। इनका कुछ और ही उपयोग होने वाला था। एक बार असुरराज वृत्र के अत्याचार से देवता और ऋषि बहुत पीड़ित हो गए। वृत्र ने नदियों का जल रोक लिया और वर्षा बन्द कर दी जिससे पृथ्वी पर हाहाकार मच गया।

देवता उसके नाम से काँपते थे। देवराज इन्द्र के पास जितने भी अस्त्र थे, वे वृत्र के पास पहुँचते ही प्रभावहीन हो जाते थे। हताश होकर सभी देवता ब्रह्मा के पास पहुँचे और अपने दुःख का वर्णन किया। ब्रह्मा ने उन्हें बताया कि कामयज्ञों पर पलने वाले विलासी देवताओं के अस्त्र से वृत्र नहीं मर सकता है। उसे मारने का एक ही उपाय है यदि किसी ऐसे विशाल व्यक्ति की, जो निस्पृह और अनासक्त भाव से तपश्चर्यालीन रहा हो, तपःपूत अस्थियाँ प्राप्त हो सकें तो उन्हीं से वज्र का निर्माण करके वृत्र का वध किया जा सकता है। ऐसा एक ही व्यक्ति है, वह हैं महर्षि दधीचि जिनकी हड्डियाँ घोर साधना से सुदृढ़ हो गयी हैं। ब्रह्मा ने देवताओं को सलाह दी कि वे दधीचि के पास जाकर उनकी अस्थि माँगें।

देवता हताश हो गये। भला कोई भी व्यक्ति अपनी हड्डियों का दान कैसे कर सकता है ? अन्यमनस्क भाव से वे दधीचि के पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि वे वृत्रासुर के वध के निमित्त वज्र-निर्माण के लिए अपनी अस्थियों का दान कर दें।

यह सुनकर दधीचि के मुख पर चिन्ता या क्रोध की एक भी रेखा नहीं उभरी। इसके विपरीत उनका मुख-मंडल प्रसन्नता से खिल उठा। उन्होंने उत्तर दिया—'देवगण! यह मेरा परम सौभाग्य है कि मेरी अस्थियाँ आप लोगों के हित के कार्य में लगने योग्य हैं। मैं इस शरीर का त्याग करना भी चाहता हूँ क्योंकि मैं वृद्ध हो गया हूँ। यदि मेरे शरीर का कोई भी भाग किसी के भी काम आ सके तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है'?

इसके बाद महर्षि दधीचि ने योगबल द्वारा अपना शरीर त्याग दिया। उनकी आत्मा शरीर से मुक्त होकर ब्रह्मलीन हो गयी और भौतिक शरीर पड़ा रह गया। देवताओं ने उनका शव ले जाकर उसमें से हड्डियाँ निकाल लीं और उन्हें स्वर्गलोक के विश्वकर्मा त्वष्टा को दिया। त्वष्टा ने अमोघ अस्त्र वज्र का निर्माण किया जिसे देवराज इन्द्र ने ग्रहण किया। वज्र को लेकर इन्द्र वहाँ पहुँचे जहाँ वृत्र ने विशाल सर्प का आकार धारण करके समस्त जल को रोक लिया था। उन्होंने वृत्र पर वज्र का प्रहार किया जिसकी चोट से वह धराशायी हो गया। वृत्र की माँ उसे बचाने आयी। वज्र के दूसरे प्रहार से वह भी गिर पड़ी। इन्द्र ने वृत्र को घसीट कर जल-मार्ग से अलग हटा दिया। इसके बाद बड़े वेग से जल का प्रवाह नदियों के मार्ग से धरती को सींचता हुआ बह निकला। बाद में इसी वज्र से इन्द्र ने उड़ने वाले पर्वतों के पंख काटकर इस पृथ्वी को बसने योग्य बनाया।

इस कथा का रहस्य नये ढंग से समझने की आवश्यकता है। आदिकाल में मनुष्य जंगलों में बर्बर अवस्था में रहता था। उस समय वह हड्डियों के अस्त्रों का प्रयोग करता था।

प्रकृति की वे शक्तियाँ जो मनुष्य के जीवन को सम्भव बनाती हैं, देवता हैं और जो जीवन विरोधी शक्तियाँ हैं, वे ही असुर, दैत्य या राक्षस हैं। मानव-जीवन के हित के लिए जो व्यक्ति अपने शरीर या प्राण का दान दे देता है, वह वस्तुतः देवताओं का ही कार्य करता है। ऐसे महान् व्यक्तियों में दधीचि उच्चतम पद के अधिकारी हैं। उनका आदर्श आज के स्वार्थों और कलुषित समाज के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम दे सकता है।

शिबि

उसी समाज को सुसंस्कृत समाज कहा जाता है जिसमें सभी मनुष्य धर्माचरण करते हुए मानव-कल्याण के लिए सतत प्रयत्न करते रहते हैं। समाज को शिष्ट और सुसंस्कृत बनाने के लिए ही भारतवर्ष में धर्म को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रमुख स्थान दिया गया था। दया, प्रेम, सहानुभूति, परोपकार, दान आदि ऐसे ही मानवीय गुण हैं जिन्हें धर्म का प्रमुख अंग माना गया है। भारतीय इतिहास के पृष्ठ इस प्रकार के धर्माचरण करने वाले महान् विभूतियों की गाथा से भरे हुए हैं। उन महापुरुषों ने धर्म के एक-एक अंग को लेकर उसे अपने जीवन में पूर्णतः चरितार्थ किया था। राजर्षि शिबि भी ऐसी ही महान् विभूतियों में से थे जिनके चरित्र पर आज भी भारत को गर्व है।

शिबि अपने परोपकार और दान के लिए प्रसिद्ध हैं। वे प्रसिद्ध राजा उशीनर के पुत्र थे। राज्यभार ग्रहण करने के बाद से ही उन्होंने परोपकार और दान में अपना सारा समय और धन लगाना प्रारम्भ कर दिया। अपने दान और परोपकार के कारण शीघ्र ही तीनों लोकों में उनका नाम प्रसिद्ध हो गया। मनुष्य और देवता ही नहीं, पशु-पक्षी भी उनकी दया और करुणा के वशीभूत हो गए। उनका यह नियम था कि उनसे जो कोई जो भी याचना करता था, वे वह वस्तु उसे अवश्य दे देते थे।

राजा शिबि के इस धर्माचरण के कारण देवराज इन्द्र को चिन्ता हो गयी। उन्होंने इस बात का पता लगाने का निश्चय किया कि शिबि ने दान को धर्म के रूप में ग्रहण किया है अथवा

केवल यश और प्रशंसा के लिए ही दिखावटी रूप में दान-पुण्य किया करते हैं। इन्द्र ने अग्निदेव से शिबि की परीक्षा लेने के सम्बन्ध में परामर्श किया। इन्द्र ने बाज का और अग्नि ने कबूतर का रूप धारण किया और शिबि के राज्य की ओर चले।

राजा शिबि अपने सिंहासन पर शान्तचित्त बैठे हुए थे। उनके दरबारी भी अपने-अपने स्थानों पर सुशोभित थे। उसी समय एक कपोत अत्यन्त भयभीत अवस्था में तेजी से उड़ता हुआ आकर उनकी गोद में गिर पड़ा। एक भयानक बाज पक्षी उस कबूतर के पीछे तेजी से उड़ता हुआ आया और शिबि के सामने बैठ गया। राजा को इसका रहस्य समझ में नहीं आया। तब राजा के पुरोहित ने उनसे कहा—'महाराज! आपकी करुणा और परोपकार की बात सुनकर बाज से डरा हुआ वह कबूतर अपनी रक्षा के लिए आपकी शरण में आया है।' राजा कुछ कहना ही चाहते थे, तबतक कबूतर बोला—'महाराज! यह हिंसक बाज अपनी क्षुधातृप्ति के लिए मुझे मारना चाहता है। मैं भागकर आपकी शरण में आया हूँ। आप मेरी प्राण-रक्षा कीजिए'।

राजा शिबि ने कबूतर से कहा—'हे कपोत! तुम मनुष्य की वाणी बोल रहे हो। इससे तुम्हारे विषय में मुझे सन्देह हो रहा है, मुझे बताओ कि तुम कौन हो'?

कबूतर ने कहा—'महाराज! वास्तव में मैं कबूतर नहीं, ऋषि हूँ। मैंने योग-बल से एक कबूतर के साथ अपना शरीर-परिवर्तन कर लिया था। मैंने वेदों का स्वाध्याय करके ज्ञान

अर्जित किया है और तपस्या द्वारा इन्द्रियों को जीता है। मैं अपने आचार्यों के प्रति सदैव श्रद्धावान् रहा हूँ और स्वप्न में भी मैंने कोई पाप नहीं किया है। कबूतर का शरीर धर लेने के कारण ही निरपराध मेरी हत्या नहीं होनी चाहिए। आप न्याय कीजिए और इस बाज से मेरी प्राण-रक्षा कीजिए।'

इस पर बाज भी मनुष्य की वाणी में बोल उठा, 'राजन्! यह कबूतर मेरा आहार है। मैं इसका पीछा कर रहा हूँ। इसलिए यह मेरा वध्य है। इसकी रक्षा करके आप पाप के भागी होंगे। इसे आप मेरे हवाले कर दीजिए।' राजा चिन्ता में पड़ गए। वे सोचने लगे—'यदि मैं कबूतर की रक्षा नहीं करता हूँ तो पाप का भागी बनूँगा क्योंकि शरणागत की रक्षा न करना पाप-कर्म है। दूसरी ओर यदि इस कबूतर को बाज के हवाले नहीं करता तो भी पाप का भागी बनता हूँ क्योंकि यह कबूतर बाज का अधिकृत आहार है और उसे बाज को न लौटाना परवस्तु-अपहरण करना है'। बहुत सोच-विचार करने के बाद शिबि ने यही निश्चय किया कि शरणागत की प्राण-रक्षा करना धर्म का कार्य है और यदि उससे थोड़ा-बहुत पाप का भागीदार होना पड़े तो भी वह क्षम्य है। अतः कबूतर की रक्षा करनी चाहिए।

उन्होंने बाज से कहा, 'इस कबूतर को मैं तुम्हें नहीं दे सकता क्योंकि यह मेरा शरणागत है। जो मनुष्य अपनी शरण में आए हुए भयभीत प्राणी को उसके शत्रु के हाथ में दे देता है, वह पाप करता है और उसके पाप के फलस्वरूप उसके देश में समय पर अच्छी वर्षा नहीं होती और न खेतों में बीज ही जमते हैं। ऐसा व्यक्ति जब संकटग्रस्त होता है तो कोई सहायक नहीं

मिलता, उसकी सन्तान बचपन में ही मर जाती है, उसके पितरों को पितृलोक में स्थान नहीं मिलता, वह स्वर्ग में जाने पर वहाँ से ढकेल दिया जाता है तथा इन्द्रादि देवता उस पर वज्र से प्रहार करते हैं। इसलिए हे बाज ! चाहे मेरे प्राण भले ही चले जायँ, मैं इस कबूतर को तुम्हें नहीं दे सकता।'

बाज बोला—'महाराज ! यह आपका अन्याय है। यह बाज मेरा है और मेरी वस्तु मुझे वापिस कीजिए।'

राजा ने कहा—'यह सच है कि यह कबूतर तुम्हारा है, किन्तु इसकी प्राण-रक्षा करना भी मेरा कर्तव्य है। इस कबूतर के बदले में तुम मुझसे जो चाहो, मैं देने के लिए तैयार हूँ ताकि मैं पाप का भागी न बन सकूँ।'

बाज ने कहा—'राजन् ! मैं इस कबूतर के बदले आपकी दायीं जाँघ से उसके वजन के बराबर मांस चाहता हूँ। यदि आप ऐसा कर सकें तो मैं कबूतर का त्याग करने को तैयार हूँ।'

राजा शिबि ने बाज की बात मान ली। तराजू मँगाया गया और उसके एक पलड़े पर कबूतर को बैठा दिया गया। दूसरे पलड़े पर राजा शिबि ने अपने दाहिने जंघे का मांस काटकर रखना शुरू किया। ज्यों-ज्यों राजा जंघे का मांस काटकर रखने लगे त्यों-त्यों कबूतर वाला पलड़ा भारी होकर नीचे और मांस वाला पलड़ा ऊपर होता गया। यह देखकर राजा मांस वाले पलड़े पर स्वयं जाकर बैठ गए। ऐसा करते समय उनके मन में न तो कोई क्लेश हुआ और न मृत्यु का भय उत्पन्न हुआ। उनके पलड़े पर बैठ जाने पर भी वह पलड़ा ऊपर ही उठा रहा और कबूतर वाला

पलड़ा नीचे झुका रहा। यह देखकर बाज बोला—'बस, हो गयी कबूतर की रक्षा।' इतना कहकर वह बाज अन्तर्धान हो गया।

राजा शिबि आश्चर्य में पड़ गये और सोचने लगे कि यह कैसा कबूतर है जो मेरे शरीर के वजन से भी अधिक वजनी है! उन्होंने कबूतर से पूछा—'कपोत! यह बाज कौन था और तुम कौन हो?'

कबूतर ने उत्तर दिया—'महाराज! वह बाज देवराज इन्द्र थे और मैं अग्नि हूँ। हम दोनों आपकी दानशीलता और सचाई की परीक्षा लेने आये थे। आपने मेरे बदले में अपनी जांघ का जो मांस काटकर दिया है उसके घाव को मैं अभी अच्छा कर देता हूँ। उस स्थान की चमड़ी का रंग सुन्दर और सुनहला हो जायेगा और उससे पवित्र एवं सुन्दर गंध निकलती रहेगी। आपके जंघे के इस चिह्न के पास से एक पुत्र उत्पन्न होगा जिसका नाम 'कपोतरोमा' होगा और जो बहुत ही यशस्वी होगा।'

इतना कहकर अग्निदेव चले गये। इस घटना के बाद से शिबि की परोपकार-निष्ठा और दानशीलता और भी बढ़ गयी। उनसे कोई जो कुछ माँगता था, वे दिये बिना नहीं रहते थे।

एक बार राजा के मन्त्रियों ने उनसे पूछा—'महाराज! आप किस इच्छा से अदेय वस्तु का भी दान करने को उद्यत हो जाते हैं? क्या आप यश के लिए ऐसा करते हैं?'

राजा शिबि ने उत्तर दिया—'नहीं! मैं यश की भावना से अथवा दान के बदले में कुछ प्राप्त करने की इच्छा से दान नहीं करता। मैं धर्म और कर्तव्य मानकर दान करता हूँ। हमारे

पूर्ववर्ती धर्मात्मा पुरुषों ने दान और त्याग का जो मार्ग दिखाया है, मैं उसी पर चलता हूँ।'

इस प्रकार त्याग और सर्वस्व दान का व्रत-पालन करते हुए राजा शिबि बहुत दिनों तक इस पृथ्वी पर राज्य करते रहे।

राजा शिबि ने अपने चरित् द्वारा जो आदर्श उपस्थित किया है उस पर अग्रसर होकर मनुष्य अपना तथा अपने समाज और देश का कल्याण कर सकता है।

वैवस्वत मनु

मानव जाति के आदि पुरुष वैवस्वत मनु थे जिन्होंने वर्तमान मन्वन्तर का प्रवर्तन किया था। प्रत्येक मन्वन्तर में चार युग होते हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। चार युग समाप्त होने पर खण्ड प्रलय होता है और पुनः नये मन्वन्तर में नवीन सृष्टि होती है। वर्तमान मन्वन्तर के प्रवर्तक महाराज मनु की कथा आज के युद्धों से पीड़ित मानव के लिए बहुत ही प्रेरणाप्रद है।

वैवस्वत मनु विवस्वान (सूर्य) के पुत्र थे। इसीलिए उन्हें वैवस्वत मनु कहा जाता है। वे बड़े ही तेजस्वी और कान्तिमान पुरुष थे। उन्होंने बदरिकाश्रम में जाकर एक पाँव पर खड़े हो दोनों बाहें ऊपर उठाकर एक हजार वर्ष तक घोर तप किया। एक दिन वे चीरिणी नदी में स्नान और तर्पण करके नदी के तट पर बैठ कर तपस्या करने की तैयारी कर रहे थे तभी जल में एक छोटी मछली उनके सामने आकर तैरने लगी। मनु ने उत्सुकतापूर्वक उसकी ओर देखा। मछली मानवीय भाषा में कहने लगी—'महर्षि! मैं एक छोटी मछली हूँ। मुझे इस नदी में अपने से बड़ी मछलियों से सदा भय बना रहता है क्योंकि वे छोटी मछलियों को खा जाती हैं। आप मुझे यहाँ से अन्यत्र ले जाकर मेरी रक्षा कीजिए।'

मनु महाराज को उस नन्हीं-सी मछली पर दया आ गयी। उन्होंने उसे उठाकर अपने जल से भरे कमण्डल में डाल दिया। मछली कमण्डल में ही बढ़ने लगी। कुछ दिनों में जब वह काफी

बड़ी हो गयी तो कमंडल में रहना उसके लिए कठिन हो गया। एक दिन उसने मनु से कहा—'महाराज! मुझे कोई बड़ा स्थान दीजिए। यहाँ मुझे कष्ट होता है।' मनु ने उसे कमण्डल से निकाल कर जल से भरे एक बड़े मटके में डाल दिया। कुछ दिनों बाद मछली और भी बड़ी हो गयी। उसने मनु से प्रार्थना की—'महर्षि! इस मटके में मेरा रहना असम्भव है। मुझे कोई और बड़ा स्थान दीजिए।' मनु ने उसे मटके से निकाल-कर आश्रम की एक बहुत बड़ी बावली में डाल दिया जो दो योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी थी। मछली वहाँ प्रसन्न थी किन्तु उसका बढ़ना उत्तरोत्तर जारी था। कुछ समय बाद वह इतनी बड़ी हो गयी कि बावली भी उसके लिए छोटी पड़ने लगी। तब उसने फिर मनु से कहा—'महात्मन्! इस बावली में भी मुझे कष्ट हो रहा है। मुझे आप यहाँ से निकालकर समुद्र-पत्नी गंगा के जल में डाल दीजिए अथवा अन्य किसी बड़े जलाशय में पहुँचा दीजिए।'

मनु ने उसे बावली से निकाल कर गङ्गा में डाल दिया। वहाँ भी वह बढ़ती ही रही। अब वह सामान्य मछली न थी, महामत्स्य बन गयी। बहुत वर्षों बाद उसने मनु से कहा—'महाराज! मैं इतना बड़ा हो गया हूँ कि गङ्गा के जल में मैं डूब नहीं पाता। आप मुझे यहाँ से समुद्र में ले चलिए।' मनु ने उसे गङ्गा के मार्ग से ही समुद्र में पहुँचा दिया। समुद्र में पहुँचते ही वह महामत्स्य और भी बड़ा हो गया। उसने हँसकर मनु से कहा—'महर्षि! आपने मेरी बड़ी सहायता की है। मैं छोटी मछली था। मुझे पाल-पोस कर आपने महामत्स्य बना दिया है। इसलिए मैं आपका उपकृत हूँ। मैं एक विशेष उद्देश्य

से आपके साथ इतने दिनों से रह रहा हूँ। मैं आपको सावधान करने आया हूँ कि शीघ्र ही प्रलय होने वाला है जिसमें पृथ्वी डूब जाएगी किन्तु यह खण्ड प्रलय होगा। इस प्रलय के उपरान्त नयी सृष्टि-रचना के लिए यह आवश्यक है कि आप एक सुदृढ़ नाव तैयार करावें और उसमें मजबूत रस्सी बाँध दें। प्रलय-काल उपस्थित होने पर आप सप्तर्षियों को साथ लेकर उस नाव में बैठ जाइएगा। साथ ही सभी प्रकार के अन्न और फल-फूलों के बीजों का संग्रह करके उन्हें नाव में रख लीजिएगा। प्रलय उपस्थित होने पर आप मेरी प्रतीक्षा कीजिएगा। उस समय मैं सींगों वाले महामत्स्य के रूप में आपके सामने आऊँगा। मेरी सींगों से ही आप मुझे पहचान लीजिएगा। अब मैं जा रहा हूँ।' इतना कहकर मत्स्य जल में विलीन हो गया।

मत्स्य के बताए हुए ढंग से मनु ने एक नाव तैयार कराई, सप्तर्षियों को सूचित कर दिया और सभी प्रकार के बीजों का संग्रह करके उन्हें नौका में रख दिया। जब प्रलय-काल आया और महावृष्टि के जल से पृथ्वी भरने लगी तो मनु सप्तर्षियों के साथ नाव में जाकर बैठ गए। प्रलय का जल बढ़ता ही जा रहा था। चारों ओर से भयावनी ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही थीं। ऐसा लगता था कि वे मनु की नौका को लीलने के लिए बढ़ती आ रही हैं। मनु को उस महामत्स्य का ध्यान आया। तभी लहरों की ओट से एक सींग वाला महामत्स्य दिखाई पड़ा। वह मनु की नाव के पास आ गया। मनु ने नाव में बँधी हुई रस्सी का एक छोर महामत्स्य की सींग में बाँध दिया। मत्स्य उत्ताल तरंगों के बीच से भयंकर झंझावातों के थपेड़े झेलती हुई नौका को धीरे-धीरे खींचता हुआ बढ़ने लगा। जल का धरातल

उत्तरोत्तर ऊँचा होता जा रहा था। चारों ओर भयंकर मेघ गर्जन कर रहे थे। उनचासों पवन भयानक वेग से दिशाओं को प्रकम्पित कर रहे थे। ऐसी विषम परिस्थिति में भी मनु अपनी नौका में अविचलित भाव से बैठे हुए थे। वे आश्वस्त थे कि महामत्स्य उन्हें किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देगा।

कई वर्षों तक मनु की नौका को वह महामत्स्य प्रलय के जल के ऊपरी सतह पर खींचता हुआ घूमता रहा। जब प्रलय-काल समाप्त होने लगा और जल का धरातल नीचे गिरने लगा तो हिमालय पर्वत की सबसे ऊँची चोटी जल के बाहर उभर आयी। महामत्स्य मनु की नौका को खींचकर उस शिखर के पास ले गया और ऋषियों से बोला—'हिमालय की इस चोटी में नौका को बाँध दो। देर न करो।' ऋषियों ने ऐसा ही किया। हिमालय के उस शिखर का नाम आज भी नौबन्धन है।

उस महामत्स्य ने मनु से अलग होते समय कहा—'मनु ! मैं प्रजापति हूँ। इस सृष्टि की रक्षा की भावना से मैंने मत्स्य का अवतार धारण किया था। तुम नवीन सृष्टि के प्रवर्तक होगे। इसीलिए मैंने तुम्हें इस कार्य के लिए प्रवृत्त किया। मेरा कार्य समाप्त हुआ। अब तुम देवता, असुर और मनुष्य आदि समस्त प्रजा की और सब लोकों तथा सम्पूर्ण चराचर की सृष्टि करो। अपनी तपस्या से तुम जगत की सृष्टि करने की प्रतिभा प्राप्त करोगे।' यह कहकर वह महामत्स्य अन्तर्धान हो गया। इसी महामत्स्य को मत्स्यावतार कहा जाता है जो भगवान् के दशावतारों में से एक है।

जब प्रलय समाप्त हो गया तो सप्तर्षि अपने स्थान को चले

गये और मनु हिमालय से उतर कर सारस्वत प्रदेश में पहुँचे। नाव में रखे बीजों को उन्होंने अपने साथ ले लिया था। उन्होंने बहुत दिनों तक घोर तपस्या की। एक दिन जब वे अग्निहोत्र कर रहे थे तो यज्ञकुण्ड में से एक सुन्दरी कन्या प्रकट हुई। मनु ने उससे पूछा—'तुम कौन हो।' युवती ने उत्तर दिया—'मेरा नाम इड़ा है। मैं सृष्टिकार्य में आपकी सहायता करने के लिए उत्पन्न हुई हूँ। आप तपस्या छोड़कर गार्हस्थ्य धर्म में प्रवेश कीजिए और सृष्टि को आगे बढ़ाइए। इसी इड़ा की सहायता से मनु ने मानव जाति का प्रारम्भ किया तथा समाज का नये सिरे से संघटन किया।

इस प्रकार भगवान ने मत्स्य रूप में अवतरित होकर मनु के माध्यम से नष्ट हो गयी सृष्टि का पुनर्निर्माण किया। मनु का चरित्र हमारे सामने यह आदर्श उपस्थित करता है कि मनुष्य को भयंकर परिस्थितियों में भी घबराना नहीं चाहिए। यदि भविष्य के प्रति आशा और निष्ठा बनी रहेगी तो विपत्तियों को झेलकर या उन्हें ढकेलकर जीवन का नये सिरे से प्रारम्भ किया जा सकता है।

महादानी रन्तिदेव

भारतीय संस्कृति में अतिथि-सत्कार को दान का ही एक स्वरूप माना गया है। इस देश में धर्म के मूल तत्त्वों में 'गुरुदेवो भव' और 'पितृ देवो भव' के समान 'अतिथि देवो भव' की भी गणना की जाती है। इस देश की परम्परा में अतिथि का स्थान देवता के समान माना जाता रहा है। इसीलिए प्राचीन काल में न तो होटल थे, न सरायें। यात्री सन्ध्या-समय जिस ग्राम, नगर या आश्रम में पहुँच जाता था, वहाँ उसके लिए लोग पूर्ण आदर और सत्कार के साथ आश्रय, भोजन और निवास की व्यवस्था करते थे। सामाजिक व्यवस्था का यह एक प्रमुख अंग था। गृहस्थ स्वयं भूखों रह जाता था किन्तु याचक और अतिथि को भूखा नहीं लौटने देता था। अतिथि की जाति, कुल, धर्म, वय आदि का भी विचार नहीं किया जाता था। इस प्रकार की घटनाओं का वर्णन प्राचीन भारतीय सहित्य में सर्वत्र मिलता है। महादानी रन्तिदेव के जीवन की घटनायें भी ऐसी ही हैं। इस पौराणिक कथा-नायक का चरित्र भी दान और अतिथि-सत्कार की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ आदर्श उपस्थित करता है। रन्तिदेव मालव प्रदेश में भरत वंश के राजा संकृति के पुत्र थे। वे बचपन से ही धर्म और भक्ति में विशेष अनुरक्त थे। इसी कारण दानशीलता, उदारता, परोपकार, अतिथि-सत्कार आदि मानवीय गुण उनमें पूर्ण रूप से वर्तमान थे। वे संग्रह और परिग्रह में विश्वास नहीं रखते थे। उनके पास जो कुछ भी रहता था, निस्संकोच दूसरों को दे दिया करते थे। ऐसे व्यक्ति

के पास धन भला क्या रहेगा ? कुवेर की निधि भी उसके लिए कम ही पड़ेगी। ज्यों-ज्यों उनकी दानशीलता की ख्याति बढ़ती गयी त्यों-त्यों उनके यहाँ नित्य याचकों और अतिथियों की संख्या बढ़ती गयी। फल यह हुआ कि उनका कोष खाली हो गया। धीरे-धीरे अन्य सम्पत्ति भी समाप्त हो गयी तथा वे एकदम कंगाल हो गये।

रन्तिदेव के मंत्री पहले ही से उन्हें इतना अधिक दान देते देखकर मन ही मन विरोध करते थे किन्तु जब से रन्तिदेव के पिता ने शासन-भार अपने पुत्र को सौंपते हुए राजकोष के सर्वथा रिक्त न होने की ओर ध्यान देने की बात कही थी, तब से वे खुलकर राजा को दान देते समय टोक दिया करते थे। फिर भी राजा के करुणाशील चित्त पर इन निषेधों का कुछ खास प्रभाव नहीं पड़ा। उनके द्वार से याचक मुँहमाँगा दान ग्रहण करके ही लौटते थे। फलतः राजकोष सर्वथा रिक्त हो गया। राजा ने कुछ दिनों तक राजधानी के बाहर रहने की ठानी क्योंकि उन्हें आशा थी कि राज्य से अलग रहने पर कोष की स्थिति में कुछ सुधार हो जाएगा।

दूसरे दिन राजा अकेले ही चुपचाप राजधानी से दूर एकान्त-वास के लिए चले गए। बात फैलते देर नहीं लगती—बिजली की तरह यह खबर राज्य भर में फैल गयी कि राजकोष के रिक्त हो जाने के कारण राजा को राजधानी छोड़नी पड़ी है। प्रजावर्ग में इसकी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। लोग स्वेच्छया अपनी सम्पूर्ण धन-सम्पदा राजकोष में समर्पित करने के लिए तैयार हो गये। उनके घरों में खुशहाली रहे और उनके राजा अज्ञात-वास करें यह उन्हें स्वीकार्य नहीं था। फल यह हुआ कि थोड़े

ही दिनों में राजकोष अपार धन से भर गया। मंत्रियों के आश्चर्य की सीमा नहीं थी। उन्होंने प्रजा के यह कहकर सान्त्वना दी कि जैसे भी हो वे राजा को वापस ले आवेंगे। राजा की तलाश में अब चारों ओर दूत दौड़ गये किन्तु कहीं भी उनका पता नहीं चला। सर्वत्र निराशा और चिन्ता व्याप्त हो गयी।

उधर राजा रन्तिदेव हिमालय की सघन उपत्यका में तपोलीन थे। कठोर साधना की स्थिति में उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रह गयी थी। उनकी तपश्चर्या इस सीमा तक पहुँच गयी कि निरुपाय इन्द्र को प्रसन्न होकर अभीष्ट वर माँगने के लिए कहना पड़ा। उनके अनुरोध पर राजा ने एक अपूर्व वरदान माँगा। उन्होंने कहा—"देवराज! मैं चाहता हूँ कि मेरे राज्य में ही नहीं, सम्पूर्ण धरती पर कृषकों के खेतों में प्रचुर अन्न पैदा हो, वृक्ष फल-फूल से लदे रहें तथा वाणिज्य-व्यवसाय की दिनों-दिन उन्नति होती रहे।"

रन्तिदेव की इस सदाशयता से देवराज इन्द्र बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक राजा को अभीष्ट वरदान दिया। राजा भी यथेच्छित वरदान पाकर दो-चार दिनों बाद राजधानी लौट आये। राजा के लौट आने से राज्य भर में खुशी की एक लहर दौड़ गयी। बड़ी सजधज के साथ हर्षविह्वल स्थिति में उनका स्वागत किया गया। देवराज इन्द्र के वरदान से अब उनके राज्य की धरती स्वर्णगर्भा हो गयी थी और घरों में सम्पत्ति का कोई ठिकाना न था। प्रजावर्ग के लोग अपनी समृद्धि का सारा श्रेय राजा को ही देने लगे।

इस प्रकार रन्तिदेव की दिनोंदिन बढ़ती ख्याति आकाश छूने लगी। इस पर सहज शंकालु देवराज इन्द्र को बड़ी चिन्ता

हो गयी। उन्होंने सोचा कि हो न हो हमारा इन्द्रपद लेने के लिए ही इसने इस कठोर त्याग का मार्ग अपनाया है। इसलिए वे रन्तिदेव को मार्गभ्रष्ट करने के लिए तैयार हो गये।

इसी बीच राजा को एक बार फिर बन में तपस्वी जीवन बिताने की अभिलाषा हुई क्योंकि उन्हें साधारण आत्म-निर्भरता-पूर्ण जीवन बिताना अच्छा लगता था। वैभव की चमक-दमक से वह दूर रहना चाहते थे। राजा के इस स्वभाव तथा मनः-स्थिति का परिवार के अन्य सदस्यों पर भी प्रभाव पड़ा। पत्नी तथा बच्चों का संस्कार भी राजा जैसा ही बन गया था। फलतः एक दिन ब्राह्ममुहूर्त में अपने परिवार के चार सदस्यों के साथ राजा एकबार फिर बिना नौकर-चाकरों के वन-यात्रा पर चल दिये।

कई महीनों की पद-यात्रा के पश्चात् अपनी राज्य सीमा से बाहर उन्होंने एक पर्वतीय अरण्यानी में पर्णकुटी बनायी और सपरिवार कठोर साधना में लीन हो गये। परिवार के सभी सदस्य अब कष्टसहिष्णु हो गये थे और दृढ़ निश्चय के साथ वही करते थे जो राजा करते थे, यद्यपि वैसे आचरण के लिए राजा की ओर से उन पर कोई दबाव नहीं था।

इस सपरिवार राजत्याग की देवराज इन्द्र पर बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने राजा को पथभ्रष्ट करने के लिए अपनी सारी बुद्धि लगा दी। उनकी माया से उस वन-प्रदेश में भयंकर दुष्काल पड़ गया। मेघों ने वृष्टि नहीं की तथा प्रचण्ड झंझावात से वन की सम्पूर्ण वृक्ष-लताएँ सूख गयीं। दुष्काल के कारण फल-मूल की प्राप्ति भी राजा के लिए मुश्किल हो गयी। फल-मूल की बात तो दूर अन्न जल की भी कठिनाई उपस्थित

होने लगी। ऊपर से प्रचण्ड लू-लपटों और अन्धड़ों के कारण उनकी पर्णकुटी भी तार तार हो गयी। धूप और लू से, शीत और वायु से देह-रक्षा का भी कोई उपाय नहीं रह गया था।

एक बार उन्हें अड़तालीस दिनों तक भोजन और जल नहीं मिला। पूरा परिवार भूख और प्यास से मरणासन्न हो गया। उनचासवें दिन जब उनकी दशा अत्यन्त करुण हो गयी और श्वास लेने भर की शक्ति ही बची रह गयी तब अकस्मात् एक व्यक्ति खीर, हलवा आदि राजसी खाद्य-सामग्री तथा जल लेकर उपस्थित हो गया और राजा से उसे ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगा। भूखे-प्यासे परिवार ने इसे भगवान का अनुग्रह मान कर स्वीकार कर लिया।

किन्तु नियति को यह स्वीकार नहीं था कि उनका परिवार भोजन करे। परिवार के लोगों के साथ राजा रन्तिदेव भोजन करने बैठे। वे ग्रास मुँह में डालने जा ही रहे थे कि एक भिक्षुक ब्राह्मण कहीं से आ टपका। उसने आर्तस्वर से राजा से भोजन की याचना की। धर्मात्मा और दानी रन्तिदेव ने प्रसन्नतापूर्वक अपना भोजन उस ब्राह्मण को दे दिया। जब वह भोजन करके आशीर्वाद देता हुआ विदा हुआ तो परिवार के लोगों ने बचे हुए भोजन को आपस में बाँट कर खाने का निश्चय किया। वे पुनः खाने बैठे। इस बार भी ज्योंही वे मुँह में कौर डालने जा रहे थे ठीक उसी समय एक शूद्र अतिथि आ पहुँचा। रन्तिदेव ने यह चिन्ता नहीं की कि वह शूद्र था। उनके लिए सभी अतिथि, चाहे वे ब्राह्मण हों या शूद्र, देवता समान थे। अतएव रन्तिदेव ने उस शूद्र को देवता समझ कर उसका सत्कार किया। उन्होंने इस शूद्र अतिथि को भी भोजन कराया। जब वह भी चला गया

तो रन्तिदेव तथा उनके परिवार के लोग शेष भोजन को बाँट कर खाने बैठे; किन्तु भोजन का सुख उन्हें नहीं बदा था। उसी समय एक और व्यक्ति अपने साथ एक कुत्ता लेकर उनके सामने उपस्थित हो गया। उसने गिड़गिड़ा कर प्रार्थना की—'महाराज! मैं और मेरा यह कुत्ता दोनों कई दिन से भूखे हैं। हम लोगों को खाना खिलाकर पुण्य के भागी बनिए।"

रन्तिदेव ने इन अतिथियों को भी देवता के रूप में ही ग्रहण किया। ('शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः') के अनुसार उनके लिए कुत्ते, चाण्डाल और ब्राह्मण में कोई अन्तर नहीं था क्योंकि अतिथि-रूप में आने पर वे सभी भगवान ही थे। अतएव रन्तिदेव ने बचा-खुचा सारा भोजन उस व्यक्ति तथा उसके कुत्ते को खिला दिया। उनके परिवार की दशा विचित्र थी। परिवार के लोगों के सामने परोसा हुआ भोजन जैसे बलपूर्वक छीन कर दूसरों को दे दिया गया। महीनों के भूखे ये लोग अपने सामने ही याचक अतिथियों को भर पेट भोजन करते देख रहे थे। किन्तु अपने त्याग, बलिदान और करुणा के कारण वे कुछ बोल नहीं रहे थे। अब उनके पास केवल जल बच गया था। वह जल भी केवल एक ही व्यक्ति के लिए पर्याप्त था। उन लोगों ने निश्चय किया कि उसी को थोड़ा-थोड़ा बाँटकर पी लिया जावे। वे जल पीने जा ही रहे थे कि एक चाण्डाल अतिथि उनके सामने आया। उसने गिड़गिड़ा कर प्रार्थना की—'महाराज! मुझे कई दिन से पानी नहीं मिल सका है। मैं प्यास से मर रहा हूँ। थोड़ा जल हो तो मुझे पिला दीजिए।'

यदि रन्तिदेव के मन में तनिक भी स्वार्थ का भाव उत्पन्न होता तो वे स्पष्ट कह देते कि मेरे पास केवल अपने पीने के लिए

जल है, किन्तु ऐसा कहने पर वे अपने व्रत से च्युत हो जाते। उनका व्रत था कि अतिथि को खिलाने-पिलाने के बाद जो बचे उसे ही स्वयं खाना-पीना चाहिए। अतः उन्होंने बिना किसी हिचक के बचा हुआ जल उस प्यासे चाण्डाल को पिला दिया। उसे तृप्त देखकर उन्हें ऐसा लगा कि वे स्वयं जल पीकर तृप्त हो गये हैं। अब पूरा परिवार भूखा और प्यासा किंकर्तव्य-विमूढ़ खड़ा था। रन्तिदेव और उनके परिवार के लोगों को इतना ही सन्तोष था कि वे स्वयं भले ही भूखे और प्यासे रह गए हों किन्तु अपने अतिथियों को भूखा-प्यासा नहीं लौटने दिया। उन्हें सन्तोष का सुख इतना अधिक था कि वे अपनी भूख-प्यास की पीड़ा भूल गये।

रन्तिदेव का यह त्याग और धर्माचरण देखकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवता प्रसन्न होकर उनके सामने उपस्थित हो गये। वस्तुतः उस दिन जितने अतिथि रन्तिदेव के यहाँ आये थे वे सभी इन देवताओं की माया थे। देवताओं ने रन्तिदेव की परीक्षा लेने का निश्चय किया था और इसीलिए उन्होंने इन मायाकृत याचकों को भेजा था। रन्तिदेव इस कठिन परीक्षा में सफल हो गये थे। अतः ये तीनों देवता उन्हें साधुवाद देने के लिए उनके सामने उपस्थित हुए। इन त्रिदेवों का अनायास दर्शन करके रन्तिदेव कृतकृत्य हो गये। उनका सारा भौतिक दुःख आध्यात्मिक सुख में परिवर्तित हो गया। वे त्रिदेवों के चरणों पर गिर पड़े।

देवताओं ने उनसे वर माँगने के लिए कहा। रन्तिदेव ने उत्तर दिया—'भगवन्! आप लोगों का दर्शन करके हमें सब कुछ

प्राप्त हो गया। अब हमें कुछ नहीं चाहिए। तीनों देवता उन्हें आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये।

रन्तिदेव की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। त्रिदेवों का आशीर्वाद पाकर निश्चय ही उनका धर्माचरण और अतिथि-सत्कार का व्रत और भी सुदृढ़ हो गया होगा और उन्होंने बहुत दिनों तक धर्म का पालन करते हुए राज्य किया होगा। राजा तो बहुत हो चुके हैं किन्तु रन्तिदेव जैसे राजा राजा ही नहीं, महात्मा होते हैं जो अपने आदर्श चरित् के कारण इतिहास में अमर हो जाते हैं। रन्तिदेव का चरित् प्रत्येक युग के मनुष्यों के लिए आदर्श बनकर प्रेरणादायक रहा है और आगे भी रहेगा।

शुनःशेप

मनुष्य अपनी प्रतिभा, त्याग, साधना और परिश्रम के बल से असम्भव को भी सम्भव बना सकता है, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है, देवताओं को वश में कर सकता है, यहाँ तक कि वह नवीन सृष्टि भी कर सकता है, यह बात हमारे पूर्वज ऋषियों और मुनियों ने चरितार्थ कर के दिखा दिया था। महर्षि विश्वामित्र ऐसे ही महान ऋषि थे जिनके डर से देवता भी काँपते रहते थे। उन्हीं की सहायता से शुनःशेप ने ऋषि-पद प्राप्त किया था जिसके रचित मंत्र ऋग्वेद में वर्तमान हैं। शुनःशेप का चरित आज भी हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत है। उसने किस प्रकार मृत्यु पर विजय प्राप्त करके ऋषि-पद प्राप्त किया, यह कथा अत्यन्त मार्मिक पर साथ ही बहुत प्रेरणाप्रद है।

उस समय कोशल देश में इक्ष्वाकुवंशी सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र राज्य कर रहे थे। अपने पिता त्रिशंकु के निर्वासित कर दिये जाने के बाद वे सिंहासनारूढ़ हुए थे। राजा बन जाने के बहुत दिनों बाद तक भी उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई। पुत्र के अभाव में उन्हें सदैव यह चिन्ता बनी रहती थी कि उनका वंश कैसे आगे बढ़ेगा। उन्होंने वरुण देवता की उपासना की। प्रसन्न होकर वरुण देवता उनके सामने प्रकट हुए और उनसे वर माँगने के लिए कहा। हरिश्चन्द्र ने विनयपूर्वक कहा, 'भगवन्! मेरे कोई पुत्र नहीं है। यदि पुत्र नहीं होगा तो वंश आगे कैसे बढ़ेगा ?' वरुण ने कहा, 'मैं तुम्हें इसी शर्त पर पुत्र-दान दे सकता हूँ कि तुम मुझे उसकी बलि दे दो'। राजा संकट में पड़ गये। वे सोचने

लगे कि पुत्र लेकर ही क्या होगा यदि उसकी बलि दे दी जायेगी। फिर भी उनके मन में सन्तान का मुख देखने की इतनी तीव्र लालसा थी कि उन्होंने वरुण की शर्त स्वीकार कर ली।

वरुण देवता की कृपा से हरिश्चन्द्र की रानी शैव्या गर्भवती हुई। समय आने पर उसके गर्भ से एक सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ जिसका नाम रोहित रखा गया। बालक के उत्पन्न होने के कुछ ही दिनों बाद वरुण देवता राजा हरिश्चन्द्र के सामने आ खड़े हुए और बोले, 'मुझे अपने पुत्र की बलि दो'। हरिश्चन्द्र असमंजस में पड़ गये। सत्यव्रती होने के कारण एक ओर तो उन्हें वरुण को दिया गया अपना वचन पूरा करने का ध्यान था और दूसरी ओर नवजात पुत्र के प्रति आसक्ति भी थी। उन्होंने सोचा कि अन्ततः पुत्र की बलि तो देनी है पर कुछ दिन उसको साथ रखने का सुख प्राप्त कर लेना चाहिये। उन्होंने वरुण देवता से कहा कि बालक अभी अवध्य है क्योंकि उसके दाँत नहीं निकले हैं। दाँत निकलने के बाद मैं उससे आपका यजन अवश्य करूँगा। वरुण वापस चले गये।

रोहित के दाँत निकलने के बाद जब वरुण फिर आये तो हरिश्चन्द्र ने मोहवश उन्हें यह कहकर लौटा दिया कि जब बालक कवच धारण कर लेगा तब उसकी बलि करूँगा। इस तरह सत्यव्रती होकर भी वे पुत्र के मोह के कारण अपना वचन पूरा करने में टालमटोल करते रहे। बालक रोहित जब कुछ समझने लायक हुआ तो कुलगुरु वसिष्ठ ने उसे उसके जन्म-सम्बन्धी पूरी घटना बताते हुए उससे कहा कि वह प्राणरक्षा के लिए बन में भाग जाय। अतः वह धनुष-बाण लेकर बन में भाग गया।

जब वरुण देवता फिर हरिश्चन्द्र के पास आये तो हरिश्चन्द्र ने उन्हें पुत्र के भाग जाने की बात सुनाई। यह सुनकर वरुण क्रुद्ध हो गये। उन्हें इसमें हरिश्चन्द्र की चाल दिखाई पड़ी। उनकी अकृपा से कुछ दिनों बाद राजा हरिश्चन्द्र रुग्ण हो गये। उन्हें जलोदर रोग हो गया। रोहित वन में घूमता हुआ कन्द-मूल-फल खाकर जीवन-यापन कर रहा था। जब उसे अपने पिता के रुग्ण होने की बात मालूम हुई तो वह अपनी बलि देने का निश्चय करके घर की ओर चल पड़ा।

वरुण का यजन हो और उसका सम्मान बढ़े, यह बात इन्द्र को पसन्द नहीं थी। वे रोहित के भाग जाने से बहुत प्रसन्न थे। जब उन्होंने रोहित को लौटते देखा तो उसे रोकने के लिए ब्राह्मण के रूप में उसके सामने उपस्थित हुए। उन्होंने उसे समझाया कि घूमो-फिरो; घूमने-फिरने से टाँगे मजबूत होती हैं, शक्ति बढ़ती है; बलि होने के लिए घर क्यों जा रहे हो ? रोहित को इन्द्र की बात समझ में आ गयी। वह वन में ही रुक गया। उधर हरिश्चन्द्र की हालत दिनोदिन बिगड़ती गयी। पिता की बिगड़ती दशा का समाचार सुन कर रोहित प्रतिवर्ष घर लौटने की तैयारी करता और हर बार इन्द्र उसे रोक देते थे। उधर राजा अपने पुत्र के लिए व्याकुल थे और साथ ही उन्हें वरुण को दिया गया वचन पूरा करने की भी चिन्ता थी। उन्होंने कुल-पुरोहित वसिष्ठ को बुलाकर पूछा कि क्या करना चाहिये, रोहित का तो कहीं पता नहीं है। वसिष्ठ ने बताया कि उन्होंने ही रोहित को वन में भगा दिया है। उन्होंने हरिश्चन्द्र से यह भी कहा कि यदि रोहित के समान गुण, जाति, रूप और वय वाला कोई बालक मिल जाय तो वरुण-यज्ञ में रोहित की जगह उसकी बलि दी जा सकती है।

राजा ने मंत्रियों को बुलाकर रोहित के समान किसी अन्य बालक को खोजने और बलि के लिए उसे खरीद कर लाने का आदेश दिया। खोजते-खोजते एक जगह अजीगर्त नामक एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण मिला जिसके तीन पुत्र थे। वह अपने मँझले पुत्र शुनःशेप को एक सहस्र गायों के बदले में देने को तैयार हो गया। मंत्रियों ने उतनी गायें देकर बालक को खरीद लिया और उसे लेकर कोसल देश की राजधानी की ओर चल पड़े।

संयोग से रास्ते में कान्यकुब्ज के राजा महामुनि विश्वमित्र मिल गये जिन्होंने वसिष्ठ के साथ संघर्ष कर के क्षत्रिय होते हुए भी अपने ज्ञान और तप के बल पर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। शुनःशेप विश्वामित्र की बहिन का पुत्र था। शुनःशेप से उसकी करुण गाथा सुनकर विश्वामित्र को दया आ गयी। उन्होंने उसके बदले अपने पचास पुत्रों में से एक पुत्र दे देने का निश्चय किया और सब को लेकर कान्यकुब्ज गये। जब उन्होंने अपने पुत्रों से यह बात कही तो उनमें से कोई भी वरुण-यज्ञ में अपनी बलि देने को तैयार नहीं हुआ। क्रुद्ध होकर उन्होंने अपने पुत्रों को कान्यकुब्ज देश से बाहर निकलवा दिया और स्वयं शुनःशेप को लेकर कोसल की ओर चल पड़े।

वहाँ राजा हरिश्चन्द्र ने वरुण-यज्ञ की पूरी तैयारी कर ली थी। गुरु वसिष्ठ ने नरबलि वाले यज्ञ में पौरोहित्य करना स्वीकार नहीं किया और अपने शिष्य अपाच्य अंगिरस को यह कार्य सौंप दिया था। विश्वामित्र शुनःशेप के साथ तटस्थ दर्शक के रूप में यज्ञ-मण्डप में उपस्थित हुए। शुनःशेप की व्यग्रता बढ़ती जा रही थी, फिर भी उसे अपने मामा विश्वामित्र की शक्ति पर विश्वास था।

जब शुनःशेप को बलियूप में बाँधने का अवसर आया तो कोई व्यक्ति उसे बाँधने को तैयार नहीं हुआ। शुनःशेप का लोभी पिता अजीगर्त भी वहाँ उपस्थित था। वह एक हजार गायें लेकर उसे बाँधने को तैयार हो गया और गायें मिलने पर अपने पुत्र को अपने ही हाथों से बलि के लिए बलि-यूप में बाँध दिया। अब शुनःशेप को खड्ग से मारने की बारी थी। शुनःशेप की आर्त दशा देखकर वध करने वालों ने उसका वध करने से इनकार कर दिया। तब अजीगर्त फिर एक हज़ार और गायें लेकर इस कार्य के लिए तैयार हो गया। जब वह तलवार हाथ में लेकर पुत्र को मारने चला तो शुनःशेप ने अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की प्रार्थना की। उसके मुख से अजस्र रूप से स्वरचित प्रार्थना के मंत्र निकलने लगे जो ऋग्वेद में सम्मिलित हैं।

यह दृश्य देखकर विश्वामित्र से चुप नहीं रह गया। वे उठ कर अपने बहनोई अजीगर्त के पास गये, उसे तलवार चलाने से रोका और अपने मंत्र-बल से वरुण देवता को यज्ञ-मण्डप में सदेह उपस्थित होने के लिए विवश कर दिया। वरुण ने कहा "महाभाग, मैं शुनःशेष के मन्त्र-बल से आकृष्ट होकर तथा आपके आदेश से यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। मैं शुनःशेप को बन्धन-मुक्त करता हूँ। मेरा यह यज्ञ अब नर-बलि के बिना ही सफल होगा तथा राजा हरिश्चन्द्र रोग-मुक्त हो जायँगे।" इतना कहकर उन्होंने अपने हाथ से शुनःशेप का बन्धन खोल दिया और फिर अंतर्धान हो गये।

यज्ञमण्डप में शुनःशेप और विश्वामित्र की जय-जयकार होने लगी। विश्वामित्र ने घोषणा की कि शुनःशेप ने आर्ष मन्त्रों की रचना की है, अतः उसे ऋषियों की कोटि में गिना जाय। उसी

समय शुनःशेप के पिता ने खड़ा होकर अपने पुत्र को अपने पास बुलाते हुए कहा, 'तुमने ऋषिपद प्राप्त करके मेरे कुल का नाम उजागर किया है, तुम मेरे गोत्र के रत्न हो।' शुनःशेप का मन पिता के प्रति घृणा से भर उठा। उसने कहा, 'आप मेरे पिता नहीं हैं। आपने तो मुझे गायें लेकर बलि के लिए बेच दिया था। मैं अब आप के गोत्र का नहीं हूँ।' इतना कह कर शुनःशेप विश्वामित्र के पास जाकर उनकी गोद में बैठ गया। विश्वामित्र ने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया और कान्यकुब्ज राज्य का युवराज पद दे दिया क्योंकि उन्होंने अपने पचास पुत्रों को देश से निकाल दिया था और वे बन में जाकर अनार्य हो गये थे। विश्वामित्र ने उसे पूर्ण शिक्षा देकर सर्व-विद्या-पारंगत बनाया। वही शुनःशेप आगे चलकर देवरात नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र

हमारे देश में अनादि काल से यह माना जाता रहा है कि धर्म और संस्कृति का आधारभूत तत्त्व सत्य है। यदि व्यक्ति सत्य को छोड़ कर मिथ्याचरण करने लगे तो वह समाज के ही नहीं, अपने प्रति भी विश्वासघात करता है। असत्य भाषण, क्रिया और विचार को असामाजिक होने के कारण भारतीय परम्परा में पाप की संज्ञा दी गयी है। सत्य व्रत का पालन अत्यन्त कठिन है। हमारे प्राचीन ऋषियों, मुनियों और महात्माओं ने मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य-व्रत का पालन करके समाज की मर्यादा स्थापित की थी। ऐसे महापुरुषों में सत्यव्रती महाराज हरिश्चन्द्र का नाम सर्वप्रमुख है।

हरिश्चन्द्र इक्ष्वाकुवंशी राजा त्रिशंकु के पुत्र थे। त्रिशंकु को उसके दुष्कृत्यों के कारण कुलगुरु वशिष्ठ ने देश से बाहर निकाल दिया था। वह वन में जाकर तपस्या करने लगा और धीरे-धीरे वनवासियों का राजा बन बैठा। एक दिन कान्यकुब्ज के राजा राजर्षि विश्वामित्र से उसकी भेंट हो गयी। विश्वामित्र ने त्रिशंकु को आश्वासन दिया कि यज्ञ द्वारा तुम्हारे पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त हो सकता है और तब तुम्हें अयोध्या का राज्य मिल सकता है। त्रिशंकु ने अयोध्या जाकर गुरु वशिष्ठ से इस सम्बन्ध में बातें कीं। कुलगुरु ने प्रायश्चित्त-यज्ञ कराने और त्रिशंकु को पुनः राजा बनाने से साफ इनकार कर दिया। वस्तुतः त्रिशंकु ने वसिष्ठ की प्रसिद्ध गाय की हत्या कर दी थी जिससे वे उसके

शत्रु बन गये थे। त्रिशंकु ने बन में वापस जाकर विश्वामित्र से वसिष्ठ की पूरी बात कही। उपर्युक्त गाय के लिए ही विश्वामित्र से वसिष्ठ की लड़ाई हो चुकी थी। अतः विश्वामित्र भी वसिष्ठ के शत्रु ही थे। शत्रु का शत्रु मित्र होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्वामित्र और त्रिशंकु में मैत्री हो गयी।

अब विश्वामित्र ने निश्चिय किया कि वे बन में ही त्रिशंकु की पापमुक्ति के लिए यज्ञ करायेंगे। उन्होंने यज्ञ की घोषणा कर दी और ब्राह्मणों, ऋषियों तथा मुनियों को यज्ञ कराने के लिए आमंत्रित किया। वसिष्ठ के प्रभाव और दबाव तथा त्रिशंकु के अपयश के कारण कोई भी ऋषि या ब्राह्मण यज्ञ कराने को तैयार नहीं हुआ। तब विश्वामित्र ने स्वयं उस यज्ञ का पौरोहित्य करने का निश्चय किया। जब यज्ञ होने लगा और विश्वामित्र ने देवताओं का आवाहन किया तो देवता भी अपना भाग लेने के लिए नहीं उपस्थित हुए। इस पर विश्वामित्र ने यह धमकी दी कि यदि देवता यज्ञ में नहीं आयेंगे तो वे नये देवताओं की सृष्टि करेंगे। देवताओं को विश्वामित्र की शक्ति का ज्ञान था। अतः वे डरकर यज्ञ में आये। त्रिशंकु का यज्ञ सकुशल समाप्त हुआ और वे पापमुक्त हो गये।

किन्तु इतना होने पर भी वसिष्ठ ने त्रिशंकु को कोसल राज्य का राजा नहीं बनाया। उन्होंने युवराज हरिश्चन्द्र को मंत्रि-परिषद् की सहायता से शासन करने के लिए अधिकारी नियुक्त किया था। हरिश्चन्द्र के संस्कार अपने पिता त्रिशंकु के संस्कारों से एकदम भिन्न थे। त्रिशंकु बाल्यावस्था से ही परपीड़क, क्रूर और अत्याचारी था। किन्तु हरिश्चन्द्र बचपन से ही उदार

परोपकारी और दानशील थे। बुरे कर्मों के कारण उनके पिता की जो दुर्दशा हो रही थी उसे देखकर वे और भी धर्मभीरु हो गये थे। सत्य-वचन और सत्य-क्रिया में उनका अडिग विश्वास था। सिंहासनारूढ़ होने पर भी जब वे निःसन्तान ही रह गये तो उन्हें वरुण की कृपा से रोहित नामक पुत्र प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने वरुण को बलि देने का बचन दिया था। मोह में पड़ कर वे अपना यह वचन पूरा न कर पाये थे जिसके फलस्वरूप उन्हें उदररोग हो गया था। रोहित के बदले शुनःशेप को बलि के लिए लाकर जब वरुण-यज्ञ किया गया तो उस समय शुनःशेप की स्तुति के कारण वरुण देवता ने शुनःशेप को बन्धन से और हरिश्चन्द्र को रोग से मुक्त किया था।

इस घटना के कारण राजा हरिश्चन्द्र और भी धर्मभीरु हो गये। वे वसिष्ठ और विश्वामित्र के झगड़े में वसिष्ठ का ही साथ देते थे। इस कारण विश्वामित्र उनसे असन्तुष्ट थे। वस्तुतः विश्वामित्र ब्राह्मण और ऋषि के रूप में अपनी जैसी प्रतिष्ठा चाहते थे, वसिष्ट के कारण वह उन्हें नहीं मिल पा रही थी। इसलिए वे वसिष्ठ से बदला लेने के लिए हरिश्चन्द्र को ही अपना शिकार बनाने की योजना बना रहे थे। उधर इन्द्र देवता भी हरिश्चन्द्र से अप्रसन्न थे। वे नहीं चाहते थे कि कोई भी व्यक्ति वरुण-यज्ञ करे। इन्द्र-पूजा छोड़ कर वरुण-पूजा करने वाले हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित को इन्द्र ने पहले भी बहकाया था और वरुण-यज्ञ में बाधा डाली थी। इस तरह इन्द्र भी हरिश्चन्द्र से बदला लेना चाहते थे।

इधर हरिश्चचन्द्र की सत्यवादिता और दानशीलता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। उनकी ख्याति तीनों लोकों में फैल गयी।

इन्द्र सशंकित हुए कि कहीं अपने सत्य और दान के पुण्य-बल से हरिश्चन्द्र उनका इन्द्रपद न छीन ले। इसलिए उन्होंने हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता और दानशीलता की परीक्षा लेने का निश्चय किया। इस कार्य में उन्होंने विश्वामित्र से सहायता माँगी। हरिश्चन्द्र ६६ अश्वमेध यज्ञ कर चुके। एक और अश्वमेध यज्ञ कर लेने पर वे इन्द्रपद के अधिकारी हो जाते। इस कारण इन्द्र नहीं चाहते थे कि हरिश्चन्द्र का सौंवा यज्ञ पूरा हो सके। उनके यज्ञ में बाधा उपस्थित करने के लिए देवराज इन्द्र ने राजर्षि विश्वामित्र के साथ मंत्रणा की। उन्होंने विश्वामित्र को एक ब्राह्मण के रूप में दान माँगने के लिए हरिश्चन्द्र के पास भेजा। हरिश्चन्द्र ने याचक ब्राह्मण का स्वागत-सत्कार किया और उनके आने का कारण पूछा, ब्राह्मण ने कहा, 'मुझे आप दान में अपने खजाने की कुंजी दे दीजिये।' महादानी हरिश्चन्द्र ने तुरन्त खजाने की चाभी उन्हें दे दी। चाभी लेकर ब्राह्मण देवता ने कहा, 'महाराज, यह चाभी देकर आपने अपना सम्पूर्ण कोश और राज्य मुझे दे दिया है। अब इस दान के संकल्प के लिए मुझे साठ भार सोना दक्षिणा के रूप में दीजिये।' राजा चिन्ता में पड़ गये। उन्होंने अपना सब कुछ ब्राह्मण को दे दिया था। अब यह अतिरिक्त धनराशि कहाँ से आये ? उन्होंने निवेदन किया, 'ब्राह्मण देवता, मैंने तो अपना सर्वस्व आप को दे दिया। मेरे पास अब और क्या बचा है ? अब तो मेरी स्त्री, पुत्र और मुझे लेकर आप अपनी दक्षिणा वसूल कीजिये।'.

ब्राह्मण देवता ने कहा, 'मुझे आपका सारा साम्राज्य मिल चुका है। आपके राज्य में जो भी सम्पत्ति है वह मेरी है। अब आप लोगों को कहाँ बेचा जा सकता है ?'। राजा हरिश्चन्द्र

ने कहा कि आप हमें काशीपुरी ले चलिये। भगवान शिव के त्रिशूल पर स्थित होने के कारण काशी नगरी मेरे राज्य में नहीं है। आप वहीं हमें बेच कर अपनी दक्षिणा वसूल कर लीजिये। ब्राह्मण बात मान गये और उन तीनों को लेकर काशी नगरी में पहुँचे। काशी के ब्राह्मण देवता ने बाजार में हरिश्चन्द्र उनकी पत्नी शैव्या और पुत्र रोहिताश्व को खड़ा करके चिल्ला-चिल्ला कर नीलाम बोलना शुरू किया। चक्रवर्ती राजा और महादानी हरिश्चन्द्र को खरीदने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। अन्त में काशी के श्मशान घाट के स्वामी डोम ने इस अभिमान के साथ कि वह चक्रवर्ती राजा को भी खरीद सकता है, पर्याप्त धन देकर राजा को खरीद लिया। डोम हरिश्चन्द्र को अपना दास बना कर ले गया और उन्हें श्मशान घाट पर पहरा देने तथा मुर्दा जलाने वालों से कर वसूल करने का काम लेने लगा।

उधर महारानी शैव्या और राजकुमार रोहिताश्व को एक वेश्या ने खरीद लिया। शैव्या वेश्या के घर काम करती थी और रोहिताश्व उसके लिए बाग से फूल चुनकर लाता था। दोनों को दास के रूप में कठिन श्रम करना पड़ता था। हरिश्चन्द्र भी दिन-रात कठिन श्रम करके अपने स्वामी के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर रहे थे। इन तीनों में से किसी के मन में दुःख, ग्लानि और पश्चाताप का भाव नहीं था, क्योंकि वे सत्यव्रत के पालन में अपना प्राण भी गँवाने को तैयार थे। उन्हें अपने व्रत पर अडिग देख कर इन्द्र और विश्वामित्र को चिन्ता हो गयी। उन्होंने हरिश्चन्द्र को धर्मच्युत करने के लिए और भी कठिन परीक्षा लेने का निश्चय किया। विश्वामित्र सर्प का रूप धारण करके उसी बाग के एक फूल में जा बैठे जहाँ से रोहिताश्व फूल चुन कर लाया करता

था। रोहिताश्व ने ज्योंही फूल तोड़ने के लिए हाथ बढ़ाया, सर्प ने उसे डँस लिया। वह जोर से चिल्लाया। शैव्या दौड़ी हुई उसके पास आयी। तब तक उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। शैव्या छाती पीट-पीट कर रोने लगी। उसके दुःख की कोई सीमा नहीं थी।

वेश्या ने शैव्या को आदेश दिया कि वह चिल्लाना बन्द करके अपने पुत्र के शव को श्मशान में फेंक आवे। वेसहारा शैव्या पुत्र के शव को लेकर इधर-उधर भटकती रही। किसी ने उससे न कुछ पूछा, न उसकी कोई सहायता की। अन्त में जब वह श्मशान घाट पर पहुँची उस समय काफी रात हो गयी थी। चारो ओर गीदड़ और उल्लू बोल रहे थे। आसामन में घना बादल होने से घोर अन्धकार छाया था। शैव्या के पास अपने प्रिय पुत्र का शव ढकने के लिए कफन भी नहीं था। वह शव को गंगा की धारा में प्रवाहित करने के लिए आगे बढ़ ही रही थी कि एक व्यक्ति हाथ में डंडा लिए उसके सामने आ खड़ा हुआ। शैव्या डर गयी। तब तक उस व्यक्ति ने कठोर वाणी से कहा, 'मुर्दे का कर देकर आगे बढ़ो।' ठीक उसी समय आसमान में बिजली चमकी और हरिश्चन्द्र तथा शैव्या एक दूसरे को पहचान गये। शैव्या पति के चरणों पर गिर पड़ी। उसने पुत्र की मृत्यु का वृत्तान्त सुनाया और विलखकर रोने लगी। हरिश्चन्द्र अविचलित खड़े रहे। वे इस समय न तो शैव्या के पति थे न रोहिताश्व के पिता। वे तो मात्र एक दास थे जिसका स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं होता। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा, 'चाहे जो हो, तुम्हें मुर्दा फेंकने का कर तो देना ही पड़ेगा। बिना कर दिये तुम शव को जल में नहीं फेंक सकती।'

यह परीक्षा की कठोरता का चरम बिन्दु था । रानी के पास कर देने के लिए कुछ भी नहीं था और राजा डोम के दास के रूप में बिना कर लिये अपने ही पुत्र का शव नदी में प्रवाहित करने देने को तैयार नहीं थे। अन्त में शैव्या ने कहा, 'मैं अपनी साड़ी का आधा भाग फाड़ कर आपको कर के रूप में दे रही हूँ। इसे ही स्वीकार कीजिये।' वह अपनी साड़ी फाड़ने ही जा रही थी कि आसमान में तेज प्रकाश हुआ और विश्वामित्र, इन्द्र, विष्णु तथा अन्य देवता सदेह उनके सम्मुख उपस्थित हो गये। देवताओं ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और घोषित किया कि हरिश्चन्द्र के समान सत्यवादी पुरुष तीनों लोकों में कोई नहीं है। उन्होंने हरिश्चन्द्र से बताया कि यह सब उनकी सत्यवादिता और दानशीलता की परीक्षा थी जिसमें वे सफल हुए। हरिश्चन्द्र और शैव्या देवताओं के चरणों पर गिर पड़े। उसी समय रोहिताश्व भी जी उठा। देवताओं का वर पाकर हरिश्चन्द्र स्त्री और पुत्र के साथ पुनः अपनी राजधानी में लौट गये जहाँ वे बहुत दिनों तक राज्य करते रहे।

पराक्रमी भगीरथ

पराक्रम मनुष्य के चरित्र का एक बहुत बड़ा गुण है। 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी, दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति' के अनुसार जो उद्योग और पराक्रम करने वाले होते हैं उन्हीं को अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती है और जो लोग केवल भाग्य या भगवान् के भरोसे हाथ पर हाथ रखे बैठे रहते हैं वे कापुरुष हैं, उन्हें जीवन में कभी भी सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। भारत देश का इतिहास ऐसे पराक्रमशील शूर-वीरों और महात्माओं के कार्यों और आदर्शों की गाथा से भरा हुआ है। ऐसे महान् पराक्रमी महापुरुषों में भगीरथ का नाम अग्रगण्य है जिन्होंने अपनी तपस्या और दृढ़निष्ठा के बल पर भगवती गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरित करके असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया। उनके इस कार्य की महत्ता इसी से सिद्ध है कि आज भी जब कोई अत्यन्त कठिन कार्य करने के लिए अग्रसर होता है तो उसके प्रयत्न को भगीरथ प्रयत्न कहा जाता है।

राजा भगीरथ इक्ष्वाकुवंश के प्रतापी राजा सगर की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। सगर के पुत्र असमंजस, असमंजस के पुत्र अंशुमान, अंशुमान के पुत्र दिलीप और दिलीप के पुत्र भगीरथ थे। इक्ष्वाकु वंश के राजा अपनी प्रतिज्ञा पर किस तरह अटल रहते थे, यह इसी से प्रमाणित है कि यदि एक राजा अपनी प्रतिज्ञा नहीं पूरी कर पाता था, तो उसके मरने पर उसका पुत्र और उसके भी मरने पर उसका पुत्र उसे पूरा करता था।

महाराजा सगर की दो रानियाँ थी, वैदर्भी और शैव्या। भगवान् शिव के वरदान से शैव्या के गर्भ से एक पुत्र और वैदर्भी के गर्भ से एक तूँबी (कद्दू) की उत्पत्ति हुई! राजा उस तूँबी को फेंकवाने ही जा रहे थे कि आकाशवाणी हुई—'राजन्, तूँबी को फेंकने का साहस न करो। इस तूँबी के बीज निकाल कर एक-एक बीज कुछ गरम किये घी से भरे एक-एक घड़े में रखवा दो। इन बीजों से तुम्हारे साठ हजार पुत्र उत्पन्न होंगे।' राजा ने ऐसा ही किया। बहुत समय बीतने पर उन घड़ों से अत्यन्त तेजस्वी साठ हज़ार पुत्र उत्पन्न हुए। ये बालक बड़े ही उद्दण्ड-क्रूर और अविवेकी थे। वे देवताओं का भी तिरस्कार करते थे। शैव्या के गर्भ से उत्पन्न पुत्र का नाम असमंजस था। वह और भी गया-बीता था। वह नगर-निवासियों के बालकों का गला पकड़ कर उन्हें नदी में डाल देता था। नगर के लोग उससे भयभीत रहते थे। उन्होंने राजा से शिकायत की। असमंजस वयस्क हो चुका था और उसके एक पुत्र भी था जिसका नाम अंशुमान था। राजा सगर के आदेश से असमंजस नगर के बाहर निकाल दिया गया। अब सगर को एकमात्र अपने पौत्र अंशुमान पर ही भरोसा रह गया।

कुछ समय बीतने पर राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। यज्ञ प्रारम्भ हुआ और यज्ञ का अश्व चतुर्दिक् विचरण करने के लिए छोड़ दिया गया। सगर के साठ हजार पुत्र घोड़े की रक्षा तथा दिग्विजय करने के लिए उसके पीछे-पीछे चले। सभी दिशाओं में राजाओं को विजित बनाते हुए वे घोड़े के पीछे-पीछे जलहीन समुद्र के तट पर पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही घोड़ा एकाएक अदृश्य हो गया। जब बहुत खोजने पर भी वह

नहीं मिला तो सगर-पुत्रों ने सोचा कि उसे किसी ने चुरा लिया है। यह सोच कर वे राजधानी में लौट आये। समाचार सुन कर सगर बहुत रुष्ट हुए और उन्हें पुनः घोड़े को खोजने के लिए वापस भेजा। समस्त पृथ्वी पर घूमते-घूमते वे एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ धरती में छिद्र था। उस छिद्र को वे खोदते-खोदते पाताल लोक में पहुँच गये। वहाँ उन्हें अपना घोड़ा घूमता दिखाई पड़ा। पास ही कपिल मुनि ध्यानस्थ दिखाई पड़े।

वस्तुतः इन्द्र सगर के अश्वमेध यज्ञ को असफल करना चाहते थे और उन्होंने ही घोड़े को चुरा कर पाताल लोक में तपस्यारत कपिलमुनि के पास बाँध दिया था। घोड़े को कपिल मुनि के पास देख कर सगर-पुत्रों ने उन्हीं को चोर समझा और उन्हें बुरा-भला कह कर अपमानित करने लगे। कपिल मुनि ने क्रुद्ध हो कर उन पर अपना तेज छोड़ा। सभी वहीं जल कर राख हो गये। जब बहुत दिनों तक सगर-पुत्र वापस नहीं आये तो राजा चिन्तित हो उठे। उसी समय नारद जी ने उन्हें यह समाचार सुनाया कि उनके सभी पुत्र पाताल लोक में कपिल मुनि के तेज से भस्म हो गये हैं। यह सुन कर सगर का हृदय शोक से भर गया। उन्होंने अपने पौत्र अंशुमान को बुलाकर कहा—'वत्स, तुम्हारे पिता को मैंने नगर से निकाल दिया है, अन्य पुत्र भस्म हो गये हैं और यज्ञ का घोड़ा भी अभी नहीं मिला है। घोड़ा पाताल लोक में कपिल मुनि के पास है। यदि तुम उसे ला सको तो मेरा अश्वमेध यज्ञ पूरा हो जाय।' अंशुमान सगर की बात मान कर घोड़ा खोजने निकल पड़ा। पाताल लोक में कपिल के पास पहुँच कर उसने उन्हें प्रार्थना द्वारा प्रसन्न किया। उसकी प्रार्थना से द्रवित हो कर कपिल मुनि ने घोड़ा वापस कर दिया और बोले—'वत्स,

तुम्हारे प्रभाव से सगर-पुत्र स्वर्ग प्राप्त करेंगे। तुम्हारा पौत्र भगीरथ तुम्हारे चाचाओं का उद्धार करने के लिए गंगा और शिव को प्रसन्न करके जब गंगा को पृथ्वी पर ले आयेगा तो उन्हीं के जल से तुम्हारे चाचाओं का उद्धार होगा।

अंशुमान घोड़ा ले कर अपने नगर में आया और सगर ने अपना अधूरा अश्वमेध यज्ञ पूरा किया। इसके बाद बहुत दिनों तक राजा सगर राज्य करते रहे। उनके मरने के बाद अंशुमान राजा हुआ। अंशुमान सिंहासन पर बैठा। वह भी अपने पितामह के समान चक्रवर्ती राजा हुआ। उसके पुत्र का नाम दिलीप था। अंशुमान ने दिलीप को समझा दिया कि उनके ६० हजार चाचा कपिल के शाप से भस्म हो गये हैं। उनके उद्धार के लिए गंगा को धरती पर लाने का प्रयत्न करना है। पिता के मरने पर दिलीप राजा हुये। वे अपने पूर्वजों के उद्धार के लिये बराबर चिंतित रहे। उन्होंने गंगाजी को पृथ्वी पर लाने के लिए बहुत प्रयत्न किया किन्तु सफलता नहीं प्राप्त हुई। मरने के पहले उन्होंने अपने पुत्र भगीरथ को सगर-पुत्रों की कथा बता कर उनके उद्धार के लिये गंगाजी को पृथ्वी पर ले आने की बात कही।

भगीरथ बड़े ही धर्मपरायण और दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष थे। उनके दर्शन मात्र से प्रजा के मन और प्राण शीतल हो जाते थे। सिंहासन पर बैठते ही उन्होंने अपने पितृ-गण के उद्धार के लिए प्रयत्न शुरू किया। उन्होंने घोर तप द्वारा गंगा को प्रसन्न करने का निश्चय किया। अतः उन्होंने मंत्रियों को बुला कर राज-काज का भार उन्हें सौंप दिया और स्वयं तपस्या करने के लिए हिमालय पर्वत पर चले गये। वहाँ उन्होंने फलमूल का आहार करते हुए एक हजार वर्ष तक घोर तपस्या की। उनकी तपश्चर्या से प्रसन्न

हो कर देवी गंगा उनके सामने प्रकट हुई और बोलीं—"राजन्, तुम्हारी कठोर तपस्या से मैं प्रसन्न हूँ। बोलो, क्या चाहते हो? तुम जो कहोगे, वही करूँगी।" राजा ने उत्तर दिया—"भगवती, मेरे पितृ-गण सगर के साठ हजार पुत्र कपिल मुनि के तेज से भस्म होकर यमलोक पहुँच गये हैं। यदि आप अपने जल से उनके भस्म का अभिषेक कर दें तो उनकी मुक्ति हो जाय। मैं आप से उनके उद्धार की प्रार्थना करता हूँ।" गंगा जी ने कहा—"राजन्, मैं तुम्हारी बात मानने को तैयार हूँ। पर जब मैं स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरूँगी, उस समय मेरा वेग पृथ्वी नहीं सँभाल सकेगी। भगवान् शिव के अतिरिक्त और कोई मेरे वेग को सँभालने की शक्ति नहीं रखता। अतः यदि तुम तप करके उन्हें प्रसन्न कर सको और वे मेरा वेग सँभालने को तैयार हो जायँ तो मैं तुम्हारी बात मान कर पृथ्वी पर आ सकती हूँ।"

यह सुन कर भगीरथ ने कैलास पर्वत पर जाकर भगवान् शिव की आराधना शुरू की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने गंगा को अपनी जटा में धारण करने का वर दे दिया। तब भगीरथ ने पुनः गंगा का ध्यान किया। गंगा ने हिमालय के शिखर पर भगवान शिव को सन्नद्ध होकर खड़े देखा। वे आकाश से अत्यन्त तीव्र वेग से पृथ्वी की ओर अग्रसर हुईं। भगवान शिव उन्हें सँभालने को तैयार खड़े थे। गंगा जी शिव जी की जटा पर बिजली की लहर की तरह गिरीं। भगवान् शिव ने समझ लिया कि गंगा को अपनी शक्ति पर अभिमान हो गया है। अतः उन्होंने गंगा की प्रबल धारा को अपने विकराल जटा-जूट में उलझा दिया। गंगा जी हजारों वर्षों तक उस जटाजूट के भीतर ही भटकती रहीं, उन्हें बाहर निकलने का मार्ग ही नहीं

मिल सका। इधर भगीरथ की व्यग्रता बढ़ती जा रही थी। इतनी घोर तपस्या के बाद जब किसी तरह गंगा जी धरती पर लायी गयी हैं तो उन्हें शिव जी की जटा के बाहर भी आना चाहिये। यह सोच कर भगीरथ ने पुनः भगवान् शिव से करुण प्रार्थना की। शिव ने द्रवित होकर गंगा को मार्ग देना स्वीकार कर लिया। जब गंगा शिव की जटा से बाहर निकलीं तो उन्होंने भगीरथ से मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए कहा। भगीरथ प्रसन्न होकर दौड़ते हुए आगे-आगे चलने लगे और उनके पीछे-पीछे हरहराती और भूमि पर अपना मार्ग बनाती हुई गंगा की वेगवती धारा बह चली। भगीरथ पूर्वोत्तर दिशा में उस तरफ जा रहे थे जहाँ सूखे सागर में छिद्र से होकर पाताल को मार्ग गया था। गंगा सागर के पास पहुँच कर गंगा सूखे सागर को अपने पवित्र जल से भरने लगी। वही जल जब पाताल लोक में कपिल मुनि के आश्रम में पहुँचा तो सगर-पुत्रों का भस्म उससे अभिषिक्त हो गया। उस भस्म का गंगा के जल से स्पर्श होते ही साठ हजार सगर-पुत्र यमलोक से मुक्त होकर स्वर्ग लोक में पहुँच गये।

इस प्रकार महाराज भगीरथ ने अपने अदम्य उत्साह, अटूट साहस, अडिग विश्वास और घोर अध्यवसाय के बल पर गंगा को भूमि पर अवतरित करके न केवल अपने पितरों का उद्धार किया बल्कि भारतीय जनता के लौकिक और पारलौकिक सुख का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया। सच पूछा जाय तो भगीरथ हमारे देश के सब से पहले अभियन्ता (इञ्जीनियर) थे जिन्होंने हिमालय से प्रभूत जल-राशि को गंगा के प्रवाह-मार्ग से भारत की मैदानी भूमि में पहुँचाया और भारत-भूमि को 'सुजला-सुफला' बनाया। हमें इस बात का गर्व होना चाहिये कि हमारे देश ने बहुत पहले ऐसे महान्, प्रतिभाशाली पुरुषों को उत्पन्न किया।

गुरुभक्त एकलव्य

ज्ञानार्जन साधना की वस्तु है। कठिन परिश्रम, अथक अध्यवसाय और सच्ची लगन के बिना कोई भी व्यक्ति किसी किसी भी विद्या में पारंगत नहीं हो सकता। इसीलिए विद्याध्ययन का काल साधना और तपस्या का काल माना जाता है। लेकिन साधना और अध्यवसाय तभी सफल हो सकते हैं जबकि उस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन करने वाला कोई गुरु हो—बिना गुरु के ज्ञान का मिलना संभव नहीं है। किन्तु सच्ची लगन, अध्यवसाय और योग्य गुरु के होते हुए भी ज्ञान की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि जिज्ञासु में ज्ञान ग्रहण करने की प्रतिभा और तीक्ष्ण मेधा न हो। सच्चा और गहन ज्ञान इन तीनों के समन्वय से ही प्राप्त हो सकता है। शिक्षा तो सामूहिक रूप से हजारों लाखों व्यक्ति प्राप्त करते हैं किन्तु सच्चा गुरु कुछ प्रतिभाशाली शिष्यों को ही अपना सम्पूर्ण ज्ञान देता है। उसी तरह प्रतिभाशाली शिष्य को अनेक गुरु मिल सकते हैं, किन्तु उनमें से वह किसी एक या दो को ही अपना वास्तविक गुरु मानता है। प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली में गुरु-शिष्य का यही सम्बन्ध मान्य था। गुरु अपने विशेष शिष्यों को अपना सम्पूर्ण ज्ञान देता था और शिष्य गुरु-दक्षिणा के रूप में सर्वस्व देने को तैयार रहता था।

गुरु-शिष्य के सम्बन्धों की इस परम्परा में अपवाद के रूप में हमें प्राचीन भारतीय इतिहास में केवल एक व्यक्ति दिखलाई पड़ता है और वह है महान् गुरुभक्त एकलव्य, जिसने गुरु से

प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा नहीं पायी फिर भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया और अप्रत्यक्ष गुरु द्रोणाचार्य ने बिना प्रत्यक्ष शिक्षा दिए ही गुरु-दक्षिणा में उसका अँगूठा कटवा लिया।

एकलव्य निषादों के सरदार हिरण्यधनु का पुत्र था। उसे अस्त्र-शिक्षा प्राप्त करने की बड़ी लालसा थी। उस समय द्रोणाचार्य अस्त्र-विद्या के सबसे बड़े आचार्य थे। वे हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों को अस्त्र-शस्त्र-चालन की शिक्षा दे रहे थे। उनकी ख्याति सुनकर एकलव्य उनके पास गया। उस समय गुरु अपने शिष्यों को बाण चलाना सिखा रहे थे। पहले वे स्वयं धनुष पर बाण चढ़ाकर लक्ष्यवेध करते थे, फिर शिष्यों को भी वैसा ही करने को कहते थे। वे भिन्न-भिन्न शिष्यों को अलग-अलग ढंग का लक्ष्य-वेध करना सिखला रहे थे। एकलव्य दूर से ही उनकी सभी क्रियायें ध्यान से देखता रहा। एक सौ पाँच राजकुमारों को शिक्षा प्राप्त करते देख निषाद-पुत्र एकलव्य को यह साहस नहीं हुआ कि वह द्रोणाचार्य के पास जाकर कुछ निवेदन करे। वह चुपचाप लौट गया। किन्तु उसके मन में धनुर्विद्या सीखने की लालसा इतनी बलवती थी कि वह दूसरे दिन फिर द्रोणाचार्य की पाठशाला की ओर चल पड़ा। दूसरे दिन भी वह सभी क्रियाओं को ध्यान से देखता रहा और पाठ समाप्त होने पर द्रोणाचार्य से बिना कुछ कहे चला आया। यह कार्य वह कई दिन तक करता रहा। वह नित्य निश्चय करके जाता था कि आज द्रोणाचार्य से उनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए अवश्य निवेदन करेगा और प्रतिदिन आचार्य के पास पहुँचने पर उसका साहस छूट जाता था।

अन्त में एक दिन आचार्य से अपनी बात कहने का पक्का

निश्चय करके वह उनके पास गया। उस समय द्रोणाचार्य राजकुमारों को सिखाये हुए ज्ञान की परीक्षा ले रहे थे। जब परीक्षा समाप्त हुई और राजकुमार राजभवन की तरफ चले गये तो गुरु द्रोणाचार्य को अकेले देख कर एकलव्य डरते-डरते उनके पास गया। आचार्य ने उसे देख कर पूछा—"तुम कौन हो और क्या चाहते हो?" एकलव्य ने आचार्य को प्रणाम करते हुए कहा—"आचार्यप्रवर, मैं निषादराज हिरणयधनु का पुत्र एकलव्य हूँ। मेरे मन में धनुर्विद्या सीखने की बलवती इच्छा है। कृपया मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करें।" द्रोणाचार्य की भौहें तन गयीं। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में एक शूद्र को शिक्षा देना एक ब्राह्मण के लिए असम्भव था। यदि द्रोणाचार्य एकलव्य को शिष्य बना भी लेते तो उन्हें राजकुमारों की शिक्षा देने की आजीविका से हाथ धोना पड़ता। इन सब बातों पर विचार करते हुए द्रोणाचार्य ने एकलव्य से रूखे स्वर में कहा-"निषाद-पुत्र, मैं तुम्हें धनुर्विद्या सिखाने में असमर्थ हूँ। निषाद को मैं धनुर्विद्या नहीं सिखा सकता।"

एकलव्य का हृदय क्षोभ से भर उठा। उसने सोचा—'यह कैसा समाज है जिसमें शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में भी वर्ण, जाति और कुल का विचार किया जाता है? यदि शूद्र में प्रतिभा है तो वह ज्ञान का अधिकारी क्यों नहीं है? यदि मुझमें ज्ञान की वास्तविक पिपासा होगी तो मैं गुरु की प्रत्यक्ष शिक्षा के बिना भी धनुर्विद्या सीख कर ही रहूँगा और एक दिन यह दिखा दूँगा कि एक निषाद भी द्विजों के मुकाबले धनुर्विद्या में अधिक पारंगत है।' उसकी यह धारणा दिनों-दिन बलवती होती गयी। उसके पिता ने उसे बहुत समझया-बुझाया-"बेटा, तुम्हें धनुर्विद्या

से क्या लेना-देना है ? तुम निषाद-कुल में उत्पन्न हुए हो, तुम्हें अपना जातीय धंधा सीखना चाहिए।" एकलव्य पर पिता की बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। द्रोणाचार्य द्वारा किये गये अपमान से उसके हृदय में क्रोध से अधिक दृढ़ निष्ठा और आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। उसने वर्णों, जातियों और कुलों में विभक्त समाज को छोड़ देने का निश्चय किया और एक दिन अपना धनुष-बाण लेकर बिना किसी को कुछ बताये गहन वन में चला गया।

एकलव्य जानता था कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। यद्यपि द्रोणाचार्य ने उसे अपना शिष्य बनाना अस्वीकार कर दिया था किन्तु उसने तो मन से द्रोणाचार्य को अपना गुरु मान लिया था। उसने सोचा कि एक दिन जिसे हृदय में गुरु–रूप में स्वीकार कर चुका हूँ वह सदा के लिए मेरा गुरु हो गया। बन में धनुर्विद्या सिखाने वाला आचार्य मिलता भी कौन ? अतः उसने बन में अपनी पर्णशाला बनायी और उसी में एक ओर द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनायी और गुरु-भाव से उस मूर्ति की पूजा करने लगा। साथ ही वह अत्यन्त मनोयोग से धनुर्विद्या की विविध क्रियाओं का अभ्यास भी करने लगा। ज्ञानार्जन के लिये तीन बातें आवश्यक होती हैं—प्रतिभा या शक्ति, निपुणता अर्थात् गुरुप्रदत्त शिक्षा और अभ्यास। एकलव्य में धनुर्विद्या-सम्बन्धी नैसर्गिक प्रतिभा जन्म से ही थी। गुरु से उसे शिक्षा भले ही नहीं मिली हो, पर गुरु को, उसने धनुर्विद्या की विविध क्रियायें राजकुमारों को सिखाते देखा ही था। उन्हीं क्रियाओं को स्मरण करके और गुरु का ध्यान करके वह उन क्रियाओं का अभ्यास करने लगा। यही उसकी स्वाध्याय-तपस्या था।

इस तपस्या में वह इस तरह लीन हो गया कि उसे अपने शरीर की सुधि नहीं रह गयी। उसने नहाना, बाल कटाना, अच्छे वस्त्र पहनना सब छोड़ दिया। स्वल्प आहार, स्वल्प निद्रा, गुरु की शिक्षा का एकाग्र ध्यान और शेष समय में बाण-चालने का अभ्यास, यही उसकी दिनचर्या थी। फलस्वरूप उसके शरीर पर मैल जम गयी, काला शरीर और भी काला हो गया, बाल और नाखून बड़े-बड़े हो गये। वह काले मृग का चर्म अपनी कमर में लपेट कर नग्नता ढकता और बन के एकान्त वातावरण में शान्त चित्त होकर धनुर्विद्या का अभ्यास करता था। उसका रूप बहुत भयानक हो गया था और उसे देख कर कोई भी उसे जंगली मनुष्य समझ सकता था। गनीमत यही थी कि उसे वहाँ देखने वाला कोई नहीं था।

उसकी यह तपस्या बहुत दिनों तक चलती रही। धनुर्विद्या में वह कितना आगे बढ़ गया था, यह वह स्वयं नहीं जानता था। उसकी योग्यता की परीक्षा लेने वाला भी वहाँ कोई नहीं था। किन्तु एक दिन उसकी परीक्षा का अवसर आ गया। वह बाण-चालने के अभ्यास में एकाग्र होकर लीन था कि तभी उसे एक कुत्ते के भूँकने की आवाज आयी। द्रोणाचार्य अपने शिष्यों को धनुर्विद्या का व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिए वन में आये थे। वे स्वयं शिष्यों को साथ लेकर किसी ओर चले गये थे। उनका अनुचर अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य सामान लिए उन्हें खोजता हुआ उस स्थान के निकट से जा रहा था जहाँ एकलव्य अभ्यास कर रहा था। उसके साथ द्रोणाचार्य का कुत्ता भी था। कुत्ते ने एकलव्य का भयानक रूप देखकर भूँकना शुरू कर दिया। उसके भूँकने से एकलव्य के कार्य में बाधा पड़ी। एक बार भूँक

कर वह आगे बढ़ जाता तो भी कोई बात नहीं थी। पर वह तो वहाँ रुककर जोर-जोर से भूँकने लगा। एकलव्य न तो जीव-हत्या करना चाहता था, न किसी के कुत्ते को मारकर झगड़ा मोल लेना चाहता था। उसे अपनी बाण-विद्या के अभ्यास का परीक्षण करने का सुनहरा अवसर हाथ लग गया। उसने एक एक करके सात बाण इस तरह चलाये कि कुत्ते का मुंह उन बाणों से भर गया और वह घायल भी नहीं हुआ, न उसे कहीं खरोंच लगी। किन्तु मुँह भर जाने के कारण कुत्ते का भूँकना बन्द हो गया। एकलव्य का उद्देश्य भी यही था। कुत्ता परेशान होकर उस अनुचर के पास दौड़ा गया। अनुचर ने दूर से ही पूरी घटना देख ली थी। वह कुत्ते को उसी हालत में लेकर निर्दिष्ट स्थान की ओर बढ़ा।

वहाँ द्रोणाचार्य और राजकुमार पहले ही से उपस्थित थे। कुत्ते को देख कर सबको आश्चर्य हुआ। जब अनुचर ने पूरी घटना बतायी तो उस अज्ञात व्यक्ति के बाण-चालन-कौशल पर सभी दाँतों तले उँगली दबाने लगे। औरों को आश्चर्य ही हुआ पर अर्जुन को उस धनुर्विद् से ईर्ष्या होने लगी। "आखिर वह कौन व्यक्ति है ? उसका पता तो लगाया जाय !" द्रोणाचार्य के सभी शिष्य उस अनुचर को आगे करके उस ओर चले जहाँ एकलव्य बाण चलाने का अभ्यास कर रहा था। वहाँ पहुँच कर उन्होंने एकलव्य का रूप, उसका अभ्यास तथा उसकी कुटी में द्रोणाचार्य की मूर्ति देखी। ये बातें उन्हें रहस्यमय लगीं। जब एकलव्य से पूछा गया कि वह कौन है तो उसने उत्तर दिया— "मैं निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र और द्रोणाचार्य का शिष्य एकलव्य हूँ। यहाँ एकान्त में धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहा हूँ।"

एकलव्य का उत्तर सुनकर अर्जुन के मन में एक ही साथ एकलव्य के प्रति ईर्ष्या और द्रोणाचार्य के प्रति शंका की भावना उत्पन्न हो गयी। वह समझता था कि उसके जैसा कुशल धनुर्विद् दूसरा कोई नहीं है। गुरु द्रोणाचार्य ने उसे विशेष ध्यान से दीक्षित किया था। एक दिन भोजन करते समय अर्जुन ने देखा कि हवा के झोंके से दीपक बुझ जाने पर भी उसका हाथ भोजन का ग्रास लेकर सहज रूप से उसके मुख तक पहुँच जाता है। अर्जुन ने समझ लिया कि अभ्यास के कारण ही ऐसा होता है और यदि इस तरह अभ्यास किया जाय तो अँधेरे में या आँख बन्द करके भी लक्ष्य-वेध किया जा सकता है। तब से वह रात के अन्धकार में लक्ष्य-वेध का अभ्यास करने लगा। एक रात धनुष की प्रत्यंचा की टंकार सुन कर द्रोणाचार्य ध्वनि का अनुसरण करके वहाँ पहुँचे तो अर्जुन को एकान्त साधन में लगा देखा। वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले, "बेटा, मैं तुम्हारी लगन और निष्ठा से बहुत प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें ऐसी शिक्षा दूँगा कि संसार में तुम्हारे जैसा धनुर्विद् दूसरा कोई नहीं होगा। मैं सत्य वचन कह रहा हूँ।" द्रोणाचार्य ने शक्ति भर अपने वचन का पालन किया था। आज अर्जुन को गुरु के वे शब्द याद आ गये। मन ही मन वह समझ गया कि एकलव्य उससे बड़ा धनुर्धर है। एकलव्य ने स्वयं कहा है कि वह द्रोणाचार्य का शिष्य है। अतः इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि द्रोणाचार्य ने वन में ही छिप-छिप कर एकलव्य को शिक्षा दी है।

अर्जुन को क्रोध हो आया। वह गुरु के पास लौट कर कठोर होकर बोला—"आचार्यप्रवर, आप से मुझे ऐसी आशा नहीं थी। आपने तो मुझे गले से लगाकर कहा था कि धनुर्विद्या

में मुझ से बढ़कर आप का कोई शिष्य नहीं होगा। किन्तु आपका यह एकलव्य नामक शिष्य तो मुझसे भी बढ़कर है। जो कौशल आपने उसे सिखाया है वह तो आपने मुझे कभी नहीं बताया।"

शिष्य अर्जुन का व्यंग्य-बाण गुरु द्रोणाचार्य के हृदय में चुभ गया। उन्हें एकलव्य की याद भी नहीं रह गयी थी। कुत्ते का बाणों से भरा मुँह देखकर उन्हें अलग आश्चर्य हो रहा था, पर एकलव्य के शिष्यत्व की बात तो उन्हें रहस्यमय लगी। उन्होंने स्वयं एकलव्य के पास चलकर इस रहस्य का पता लगाने का निश्चय किया। वे अपने शिष्यों को लेकर एकलव्य की कुटी के पास पहुँचे। उस समय एकलव्य गुरु की मूर्ति का पूजन कर रहा था। गुरु को साक्षात् वहाँ उपस्थित देखकर उसे लगा कि आज उसकी साधना सफल हो गयी। जिस गुरु ने एक दिन अपमानित करके उसे अपने पास से भगा दिया था, वे ही आज स्वयं वन में उसकी विद्या से आकृष्ट होकर उसके पास आये हैं, इससे बढ़ कर उसकी साधना का फल और क्या हो सकता है? यह सोच कर वह उठा और गुरु के चरणों पर गिर पड़ा। द्रोणाचार्य ने उसे उठने का आदेश दिया। जब वह खड़ा हुआ तो द्रोणाचार्य ने उससे पूछा, "तुमने यह विद्या किससे और कैसे सीखी?" एकलव्य ने उत्तर दिया, "भगवन्, आप ही मेरे गुरु हैं और मैंने यह सब कुछ आप ही से सीखा है।"

द्रोणाचार्य की समझ में बात नहीं आयी। उन्हें ग्लानि भी हो रही थी कि राजकुमार उन्हें झूठा और एकलव्य को सच्चा समझ रहे होंगे। अतः उन्होंने एकलव्य से विस्तारपूर्वक पूरी बात कहने को कहा। एकलव्य ने आदि से अन्त तक सारी कथा सुना दी। द्रोणाचार्य आश्चर्य-चकित रह गये, "क्या यह सम्भव

है ? क्या गुरु के सिखाये बिना ही, केवल उसका ध्यान करके, ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ?" यही सोचते-सोचते एकलव्य के प्रति उनका हृदय ममता और गर्व से भर उठा, किन्तु उन्हें तुरन्त अर्जुन द्वारा लगाये गये आरोप का भी ध्यान आया। अतः उन्होंने अपने को निर्दोष सिद्ध करने और अर्जुन को अपना सर्वश्रेष्ठ शिष्य सिद्ध करने के लिए एकलव्य के प्रति स्नेह के भाव को दबाकर उसे कठोर दण्ड देने का निश्चय किया।

"क्या सचमुच तुम मेरे शिष्य हो ?" गुरु ने पूछा। "हाँ महाराज, सामने ही आप की मूर्ति है जिसकी पूजा करके मैं नित्य प्रेरणा प्राप्त करता हूँ।" शिष्य ने उत्तर दिया।

अब द्रोणाचार्य ने कठोर स्वर में कहा—"यदि तुम मेरे शिष्य हो तो क्या तुम मुझे गुरुदक्षिणा देने को तैयार हो ?"

क्षण भर भी सोच-विचार न करके एकलव्य ने उत्तर दिया—"महाराज, मेरा सर्वस्व आपका ही है। जो माँगेंगे, मैं गुरुदक्षिणा में देने को तैयार हूँ।"

"तो गुरु-दक्षिणा-स्वरूप तुम अपने दाहिने हाथ का अँगूठा मुझे दे दो।" वज्र-निर्घोष करते हुए गुरु ने कहा। सभी उपस्थित व्यक्ति काँप उठे। द्रोणाचार्य पत्थर की तरह निर्भय बनकर खड़े थे। महान साधक और गुरुभक्त एकलव्य ने क्षण भर की भी देर नहीं की और उसने अस्त्र से अपने दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर गुरुदेव के चरणों पर अर्पित कर दिया।

उपमन्यु का आज्ञापालन

भारतीय संस्कृति की नींव सदाचार है। समाज में रहने के लिए व्यक्ति को कुछ विशेष नियमों का पालन करना पड़ता है। उन नियमों के पालन करने वाले ही शिष्ट और सदाचारी व्यक्ति कहलाते हैं। सत्य भाषण, असत्य का त्याग, बड़ों की आज्ञा का पालन करना, अकारण क्रोध और हिंसा न करना, दीन-दुखियों पर दया करना, सबसे प्रेम का व्यवहार करना, अतिथि-सत्कार सत्पात्र को दान आदि बातें सदाचार के अन्तर्गत आती हैं। छात्रों के लिए सदाचार के कुछ विशेष नियम बताये गये हैं। उनमें से प्रमुख नियम है—गुरु की सेवा और उसकी आज्ञा का पालन। प्राचीन भारत में ऐसे महान् व्यक्ति हो चुके हैं जिन्होंने अपनी छात्रावस्था में गुरु की सेवा में अपने को पूरी तरह लगा दिया था और इस तरह विद्या की प्राप्ति की थी।

प्राचीन काल में आयोद धौम्य नामक एक महान् ऋषि थे जो अपने आश्रम में शिष्यों को शिक्षा दिया करते थे। उनकी शिक्षा-पद्धति यह थी कि वे छात्रों को केवल ग्रन्थ का ज्ञान नहीं सिखाते थे बल्कि व्यावहारिक शिक्षा भी देते थे और इसके लिए वे छात्रों से आश्रम के कार्य कराते थे। इससे छात्रों का स्वास्थ्य ठीक रहता था और व्यावहारिक जीवन की शिक्षा भी मिल जाती थी। धौम्य के तीन प्रसिद्ध शिष्य हुए—उपमन्यु, वेद और आरुणि। इन तीनों को छात्रावस्था में गुरु के आश्रम में कितना श्रम करना पड़ा था, इसकी कथा बहुत ही शिक्षाप्रद है।

उपमन्यु जब आश्रम में प्रविष्ट हुआ तो आचार्य धौम्य ने उसे आश्रम की गायें चराने का भार सौंपा। गाय चराने के लिए उपमन्यु को वन में इधर-उधर जाना पड़ता था। वन की प्राकृतिक हवा और जल के सेवन से उसका स्वास्थ्य बहुत सुन्दर हो गया और वह उत्तरोत्तर मोटा होता गया। एक दिन आचार्य धौम्य की दृष्टि उसके शरीर के मोटेपन पर गयी, उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"बेटा उपमन्यु, तुम गायों के पीछे-पीछे जंगल में इधर-उधर दौड़ते रहते हो; धूप और श्रम से थक जाते होगे। इतना श्रम करने पर तो तुम्हें दुबला होना चाहिये। पर मैं देखता हूँ कि तुम दुबले न होकर और भी मोटे हो गये हो? इसका कारण क्या है?"

उपमन्यु ने अत्यन्त विनम्रता से उत्तर दिया—"गुरुवर, जो आश्रम में मिलता है, उसे तो खाता ही हूँ; बाहर जिन गाँवों से होकर जाता हूँ, वहाँ भी भिक्षा माँग कर खा लेता हूँ। इसी कारण मेरा शरीर स्थूल हो गया है।"

उपमन्यु चाहता तो झूठ बोल कर गुरु को निरुत्तर कर देता। किन्तु उसने सच बात को छिपाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। किन्तु गुरु को उसे सदाचार की शिक्षा देनी थी। अतः आचार्य धौम्य ने उसे समझाया—"वत्स, तुम्हारा यह कार्य अनुचित है। तुम्हें आश्रम से भोजन मिलता है, फिर तुम भिक्षाटन क्यों करते हो? और भिक्षाटन का अन्न तो गुरुकुल का होता है। उसे तुम अकेले ही क्यों खा लेते हो? आगे से तुम्हें आश्रम से भोजन नहीं मिलेगा और भिक्षा से जो अन्न मिले, उसे तुम मेरे पास लाया करो।"

उपमन्यु ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की। दूसरे दिन से वह बिना कुछ खाये-पिये प्रातःकाल गाय चराने जाता और सन्ध्या समय भिक्षान्न लाकर गुरु के पास रख देता। धौम्य उपमन्यु की परीक्षा ले रहे थे। अतः वे भिक्षान्न को भाण्डार में भेज देते और उपमन्यु को बिना खाये रह जाना पड़ता था। किन्तु उपमन्यु कुछ भी नहीं कहता था, न उसे किसी प्रकार का दुःख ही होता था। कुछ दिनों बाद गुरु धौम्य ने देखा कि उपमन्यु पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और उसका शरीर पहले जैसा ही स्वस्थ और स्थूल है। अतः उन्होंने एक दिन सन्ध्या समय उपमन्यु के लौटने पर पूछा—'बेटा उपमन्यु, तुम्हें आश्रम से भोजन नहीं मिलता। भिक्षाटन में जो अन्न मिलता है, वह भी तुम लाकर आश्रम में जमा कर देते हो। फिर भी तुम्हारा स्वास्थ्य पहले जैसा ही है। आखिर, तुम आजकल क्या खाते-पीते हो ?'

धौम्य को विश्वास था कि उपमन्यु झूठ नहीं बोलेगा। उपमन्यु भी सत्य से विचलित होने वाला नहीं था। उसने कहा—'गुरुवर, मैंने अपने भोजन का प्रबन्ध कर लिया है। आप जानते हैं कि भूखे रह कर तो कोई काम हो नहीं सकता। गायों के पीछे-पीछे घूमने में श्रम होता ही है। अतः मैं गायों का दूध दुह कर पी लेता हूँ। इस तरह मेरी क्षुधा शान्त हो जाती है।'

गुरु मन ही मन उपमन्यु की सत्यवादिता से प्रसन्न हो रहे थे। पर ऊपर से कठोर बन कर उन्होंने कहा, 'बेटा, यह तो बहुत ही अनुचित बात है। गायें आश्रम की हैं। उनका दूध भी आश्रम का ही है और उस पर सबका बराबर अधिकार है।

गायों का दूध बिना मुझ से पूछे तुम क्यों पी लेते हो ? यह तो चोरी है। आगे से ऐसा मत किया करो।'

उपमन्यु ने आचार्य की इस आज्ञा को भी शान्त भाव से स्वीकार किया। अगले दिन से उसने गायों का दूध पीना बन्द कर दिया। वह रोज भिक्षान्न गुरु जी के सामने रख देता और चुपचाप विश्राम करने चला जाता। कई दिनों तक यही क्रम चलता रहा। एक दिन आचार्य धौम्य की दृष्टि फिर उसके शरीर पर गयी। उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उपमन्यु का शरीर अब भी पहले जैसा ही स्वस्थ और स्थूल है। उन्होंने कहा—'वत्स, आजकल तुम खा-पी क्या रहे हो ? भिक्षान्न तो यहाँ दे देते हो ? गायों का दूध पीते नहीं। फिर बिना कुछ खाये तुम्हारा शरीर इतना मोटा क्यों है ?'

उपमन्यु से कहा, 'गुरुवर, मैंने अपने लिए एक नया प्रबन्ध कर लिया है जिसमें आश्रम की सम्पत्ति की चोरी भी नहीं है और मेरा पेट भी भर जाता है। बछड़े जब गायों का दूध पीने लगते हैं तो उनके पास चला जाता हूँ। उनके मुख से दूध का जो फेन गिरता है मैं उसे ही खा लेता हूँ। उसी से मेरी क्षुधा शान्त हो जाती है।'

आचार्य धौम्य ने कृत्रिम क्रोध दिखाते हुए कहा—'उपमन्यु, यह तो और भी अनुचित बात है। बछड़े बड़े दयालु होते हैं। वे तुम्हें फेन खाते देख कर अपने हिस्से का दूध तुम्हारे लिए फेन के रूप में गिरा देते होंगे। इस तरह वे स्वयं भूखे रह जाते होंगे। यह तो पाप कर्म है बेटा ! आगे से ऐसा कभी मत करना।'

उपमन्यु ने यह आज्ञा भी मान ली। उसने गुरु से एक बार

भी यह नहीं पूछा कि आगे से मैं क्या खाऊँगा। गुरु जी भी उसकी परीक्षा ले रहे थे कि देखें, अब यह क्या करता है ? अब उपमन्यु पेड़ के पत्ते खाकर जीवन बिताने लगा। लेकिन पत्ते भला मानव शरीर की रक्षा कब तक कर सकते हैं ? उपमन्यु दिन-प्रति-दिन कमजोर होता गया। उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया था। फिर भी उसकी मुखश्री कम नहीं हुई। अखण्ड भाव से वह अपने गुरु तथा गाँव वालों की सेवा करता रहा। वह नित्य सायं गुरु की सेवा में भिक्षान्न निवेदित करता रहा, गुरु की दृष्टि भी उसकी देह-कृशता पर पड़ती रही लेकिन भूलकर भी उन्होंने इसका रहस्य उपमन्यु से नहीं पूछा। फिर भी उपमन्यु अपने व्रत से खण्डित नहीं हुआ। पूर्ववत् गुरु-सेवा, भिक्षाटन और नित्य-चर्या में बिना किसी प्रमाद के जुटा रहा। लेकिन धीरे-धीरे उसकी शक्तिहीनता इतनी बढ़ गई कि उसके लिए नित्यकर्म करना भी अब कठिन हो गया। आक के पत्तों के खाने के कारण उसके आंखों की ज्योति क्षीण होती गयी और एक दिन ऐसा भी हो गया कि वह एकदम अन्धा हो गया। उस दिन गौवों को आश्रम से ले जाते हुए उसे अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। रास्ता परिचित होने के कारण तथा गौवों और बछड़ों की स्वाभाविक आदतों का ज्ञान होने से वह गन्तव्य तक पहुँच!तो गया लेकिन ऊँची-नीची जमीन पर उसे अनेक बार ठोकरें खानी पड़ीं। सायंकाल गौवों के साथ लौटना तो बहुत ही मुश्किल हो गया।

अन्धा हो जाने के कारण उपमन्यु को एक तो समय का ज्ञान नहीं हो सका। दूसरे कमजोरी के कारण वह बिल्कुल चेतना-शून्य हो गया था। इस लिए गौवें जब घर-घर रंभाने लगीं तब

उसे होश आया और वह लाठी टेकता हुआ आश्रम की ओर लौट पड़ा। लेकिन रोज की तरह सकुशल गौवों के साथ आश्रम तक पहुँचना उसके सामर्थ्य से बाहर था। वह बेचारा गाँव के एक टूटे-फूटे कूएँ में ठोकर खाकर गिर पड़ा। गौएँ बिना संरक्षक के आश्रम पहुँच तो गईं लेकिन शान्त न रह सकीं। उन्होंने मिल-जुल कर एक उपद्रव ही खड़ा कर दिया तथा लगीं जोर-जोर से रँभानें। महर्षि धौम्य उनकी आवाज सुनकर उठ खड़े हुए और उनके पास जाकर देखा कि वे सीधी-सादी गौवें उन्हें घेर कर खड़ी हैं तथा चुपचाप आंसू बहा रही हैं। थोड़ी देर बाद वे रंभाने लगीं तथा बनमार्ग की ओर चलने का संकेत करने लगीं। गौओं को अकेले देखकर महर्षि के कान खड़े हो गये थे। यह संकेत पाकर उन्हें दुर्घटना का अनुमान लगातें देर न लगी। उन्होंने अपने प्रमुख शिष्यों को बुलाया तथा तेजी से उस रास्ते की ओर चल पड़े जिधर से उपमन्यु गौओं के साथ लौटा करता था।

काफी ढूंढ़ने पर भी जब उपमन्यु का पता न लगा तो उन्होंने बड़ी विकलता से उसे तेज आवाज में पुकारना शुरू किया—'उपमन्यु! बेटा उपमन्यु! तुम कहाँ हो? आवाज तो दो। मैं तुम्हें कितनी देर से ढूँढ़ रहा हूँ।'

पाँच-सात बार इसी तरह पुकारने के बाद उन्हें पास ही के कोने में पड़े कूयें से एक क्षीण आवाज सुनाई पड़ी—'भगवन्! मैं इस अन्धे कूएँ में गिर पड़ा हूँ। आप यहाँ आइये।'

महर्षि धौम्य तीव्र गति से उस कूएँ के पास पहुँचे लेकिन अन्धकार इतना गहरा था कि उन्हें कुछ दिखाई न पड़ा। उन्होंने जोर से पूछा—'वत्स! तुम इस अन्धे कूएं में कैसे गिर पड़े?'

उपमन्यु ने उत्तर दिया—'भगवन् ! लगातार आक के पत्ते खाने के कारण मैं अन्धा हो गया था और मेरे शरीर में शक्ति भी नहीं रह गई थी। फलतः आज आश्रम लौटते समय मैं इस अन्धे कूएँ में गिर पड़ा। शरीर इतना कमजोर हो गया है कि कूएँ से बाहर आना तो दूर, बोलने में भी बड़े कष्ट का अनुभव हो रहा है।'

महर्षि को यह समझते देर नहीं लगी कि इधर लम्बे काल तक निराहार रहने से तथा भिक्षान्न, दूध या फेन के बन्द हो जाने से इसकी यह दशा हुई है। थोड़ी देर चुप रहने के बाद उन्होंने उपमन्यु से कहा—'बेटा! तू अश्विनीकुमारों की प्रार्थना कर। मैं तुम्हें उनके स्मरण का मन्त्र बता चुका हूँ। अश्विनी-कुमारों के प्रसन्न हो जाने पर तुम्हारा सारा कष्ट दूर हो जायगा।'

उपमन्यु ने गुरु के निर्देश पर जब प्रार्थना दुहरानी शुरू की तो उसे लगा कि अश्विनीकुमारों की स्तुति के सभी मन्त्र उसे यथावत याद हैं। इसे उसने अनुकूल स्थिति मानी और उन मन्त्रों के द्वारा अश्विनीकुमारों की प्रार्थना करने लगा। गुरु भी अपने अन्य शिष्यों सहित थोड़ी देर तक स्तुति करते रहे और फिर उपमन्यु को प्रार्थना करते देख आश्रम को चले गये। उपमन्यु ने कहा, 'हे अश्विनीकुमारो ! मैं अन्धा, पथच्युत आपका गुणानुवाद करने योग्य नहीं हूँ। इस अन्धे कूप-दुर्ग में पड़ा हुआ आप दोनों के शरण आया हूँ। मेरी रक्षा कीजिए।'

स्तोतुं न शक्नोमि गुणैर्भवन्तौ, चक्षुर्विहीनः पथि संप्रमोहः।
दुर्गेऽहमस्मिन पतितोऽस्मिकूपे, युवां शरण्यौ शरणं प्रपद्ये॥

इस प्रकार की निस्पृह प्रार्थना तथा अमोघ मन्त्रों के जाप से प्रसन्न अश्विनीकुमार उस कूएँ में ही प्रकट हुए। कूएँ में

प्रकाश फैल गया तथा उपमन्यु खड़ा होकर फिर प्रार्थना करने लगा।

अश्विनीकुमारों ने कहा—'उपमन्यु ! तुम्हारी गुरु-सेवा तथा एकनिष्ठ कर्तव्य-भावना से हम प्रसन्न हैं। तुम्हारी सरल साधना से प्रसन्न होकर हम लोग पिष्टक (विशेष प्रकार की मिठाई) लाये हैं। इसे खा लेने पर तुम सभी कष्टों से मुक्त हो जाओगे। इस लिए इसे शीघ्र ही खालो क्योंकि कई दिनों के अनाहार से तुम्हारा शरीर बिल्कुल टूट गया है।'

उपमन्यु ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'हे देवताओ ! आपकी कृपा के लिए मैं अत्यधिक कृतज्ञ हूँ। आज्ञा टाली भी नहीं जा सकती लेकिन मेरे साथ यह मजबूरी है कि बिना गुरु के चरणों में अर्पित किये मैं इसे नहीं खा सकता।'

अश्विनीकुमारों ने कहा, 'उपमन्यु ! इस पिष्टक की आवश्यकता तुम्हें है, तुम्हारे गुरु को नहीं। यह पिष्टक भिक्षान्न भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि तुम्हारे गुरु ने एक बार यह पिष्टक बिना अपने गुरु को दिये ही ग्रहण किया था। इस लिए गुरु ने जैसा आदर्श उपस्थित किया है, वैसा ही आचरण करने में तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा।'

उपमन्यु ने उत्तर दिया—'किन्तु देव ! मैं ऐसा नहीं कर सकता। आप लोग मुझे क्षमा करें। मैं गुरु के चरणों में अर्पित किये बिना यह पिष्टक त्याज्य समझता हूँ।'

उपमन्यु की दृढ़ता ने अश्विनीकुमारों को और भी प्रभावित किया।

उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—

'उपमन्यु ! तुम्हारी अदम्य भक्ति से हम अत्यधिक प्रसन्न

हैं। हमने अपनी औषधियों से तुम्हारे गुरु के दाँत लोहे के बनाये हैं। हम यह वरदान देते हैं कि तुम्हारे दाँत सोने के हो जायं। तुम्हारी आँखें ज्योतिपूर्ण हों तथा तुम्हारे शरीर में दिव्यता एवं पुष्टि के साथ उत्तम विद्या का वास हो।' इतना कहकर अश्विनीकुमारों ने उसका स्पर्श किया तथा अन्तर्धान हो गये। स्पर्श करने के साथ ही उसके शरीर में विद्युत-स्फूर्ति समा गई। उसने अश्विनीकुमारों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की तथा पिष्टक को हाथ में लिए गुरु के आश्रम की ओर चल पड़ा।

उपमन्यु को आश्रम में देखकर गुरु ने अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त की तथा बढ़कर उसे गले लगा लिया। उपमन्यु गुरु के चरणों में लिपट कर बड़ी देर तक रोता रहा। गुरु ने उसे प्रेम से ऊपर उठाया और गद्गद् कण्ठ से बोले—'बेटा। तुम्हारी साधना पूरी हुई। अश्विनीकुमार तुम पर प्रसन्न हैं। सारे वेद, शास्त्र तथा लौकिक ज्ञान-विज्ञान आज तुम्हें सिद्ध हो गये हैं। तू पिष्टक खाले तथा कल अपने दीक्षान्त की तैयारी कर।'

दूसरे दिन प्रातः देवोपम उपमन्यु का दीक्षान्त सम्पन्न कर जब गुरु ने प्रसन्न भाव से पितृगृह के लिए उसे विदा किया तो उपमन्यु कृतज्ञता के बोझ से दबा जा रहा था।

दानवीर कर्ण

कर्ण एक महान दानी और तेजस्वी योद्धा था। महाभारत के प्रसिद्ध संग्राम में उसने कौरव-पक्ष से युद्ध किया था। अपनी दानवीरता में वह लोकविश्रुत था। देवताओं, ब्राह्मणों और याचकों के लिये उसे कोई भी वस्तु अदेय नहीं थी। पाण्डवों को उससे बराबर भय बना रहता था क्योंकि वह पराक्रम में किसी तरह अर्जुन से कम नहीं था। फिर भी उसे जीवन भर अपने रहस्यमय जन्म-वृत्तान्त के नाते लांछित होना पड़ा। शुरू में तो वह भी अपनी जन्म-कथा नहीं जानता था किन्तु बाद में परिस्थिति ऐसी उत्पन्न हुई कि उसे ही क्या, सारे महाभारत-कालीन समाज को उसके रहस्यपूर्ण जन्म की जानकारी हो गयी। वस्तुतः वह कुन्ती का पुत्र था और जन्म-काल में ही सूर्य के अंश से कवच-कुण्डल युक्त तेजस्वी देवपुत्र के रूप में पैदा हुआ था। उस समय कुन्ती राजा कुन्तिभोज के यहाँ पोषित हो रही थी क्योंकि उसके पिता वृष्णिवंशी शूरसेन ने, जो वसुदेव के भी पिता थे, अपने मित्र कुन्तिभोज को पहली सन्तान भेंट करने की प्रतिज्ञा की थी। कौमार्यावस्था में ही उसे एक दण्डधारी तेजस्वी ब्राह्मण की सेवा का भार सौंपा गया। पृथा नामधारिणी कुन्ती ने बिना किसी आलस्य के ब्राह्मण की सेवा की। ब्राह्मण दुष्काल में उपस्थित होता था और बड़ी कठिन सेवा लेता था—फिर भी पृथा की एकनिष्ठता भंग नहीं हुई। प्रसन्न होकर ब्राह्मण ने उसे एक ऐसा मन्त्र दिया जिसके प्रभाव से वह जब चाहे जिस देवता को बुला सकती थी और उसे

वश्य कर सकती थी। एक दिन प्रातः पृथा प्रासाद से उगते सूर्य का दर्शन कर रही थी, उसे कवच-कुण्डलधारी सूर्य की दिव्यता का आभास हुआ। कौतूहलवश उसने ब्राह्मण के दिए मन्त्र की परीक्षा करनी चाही। विधिवत् आचमन और प्राणायाम के बाद सूर्य देवता का आवाहन किया। उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब उसने तेजोद्दीप्त सूर्य देवता को मुसकुराते हुए सामने खड़ा पाया। सूर्यदेवता ने कहा—'भद्रे, मैं तुम्हारे वशीभूत हूँ। बोलो, क्या चाहती हो ?' कुन्ती ने कहा—'महाराज! आप जहाँ से आए हैं, वहीं पधार जायँ; मैंने तो कौतूहलवश आपका अवाहन किया था।' सूर्य देवता ने उत्तर दिया—'तन्वि! देवता को इस प्रकार लौटाना न्यायोचित नहीं है। तुम्हारी इच्छा ऐसी थी कि तुम्हें मेरे जैसा कवच-कुण्डलधारी अतुलित पराक्रमी पुत्र पैदा हो। इसलिए तुम अपना शरीर मुझे अर्पित करो। तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।'

पृथा ने कुमारी होने के नाते अपनी असमर्थता प्रगट की। उसने शरीर-समर्पण को अधर्ममूलक अपराध बतलाते हुए आवाहन की गलती के लिए पुनः क्षमा याचना की। किन्तु सूर्य देवता तो मंत्राभिभूत थे। पृथा का आकर्षण उन्हें बाँधे दे रहा था। उन्होंने पुनः उसे शरीर-समर्पण के लिए फुसलाया और कहा कि उसका कार्य अधर्ममूलक नहीं माना जायगा। शरीर-दान करने पर भी वह सती ही बनी रहेगी।

पृथा ने उत्तर दिया—'देव, अगर ऐसी बात है, और मुझसे यदि ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करें जो जन्म से ही आप जैसा कवच-कुण्डलधारी हो, तो मेरा आपका समागम हो सकता है।'

सूर्य ने उसे अपनी माता अदिति से प्राप्त कवच-कुण्डल देने

को कहा तथा तेज से पृथा को मुग्ध करते हुए उसके शरीर में योग द्वारा प्रविष्ट होकर गर्भ स्थापित किया। अन्तःपुर की एक दाई के सिवा और किसी को भी इस घटना का पता नहीं चला। दसवें महीने उसे एक कान्तिमान देवपुत्र पैदा हुआ। पृथा ने दाई की सहायता से पिटारी में नवजात शिशु को लिटाकर सूर्य और वरुण देवता को सौंपते हुए अश्व नदी में छोड़ दिया। अश्व नदी से चम्बल और यमुना में होती हुई जब वह पिटारी गङ्गा के किनारे चम्पक नगरी के पास पहुँची तो उसे अधिरथ नामक पुत्रहीन सूत ने प्राप्त किया। दिव्य कवचधारी पुत्र को अधिरथ ने देवता का प्रसाद समझकर ग्रहण किया। सोने के कवच (बसु धर्म) और कुण्डल के नाते ब्राह्मणों ने उसका नाम बसुषेण रख दिया। चम्पक नगर अङ्गदेश के अधीन एक नगर था। बड़ा होने पर बालक पढ़ने के लिए हस्तिनापुर भेजा गया जहाँ उसने द्रोणाचार्य से धनुर्विद्या सीखी। कृपाचार्य और परशुराम से चारों प्रकार के अस्त्रों का संचालन सीख कर अद्भुत पराक्रम भी हासिल कर लिया। हस्तिनापुर में ही उससे दुर्योधन से मित्रता हो गयी और वहीं से समान टक्कर के योद्धा अर्जुन के प्रति उसके मन में स्पर्धा का भाव उत्पन्न हुआ।

अर्जुन से उसकी पहली टक्कर धनुर्विद्या के परीक्षा-काल में हस्तिनापुर के रंगमहल में ही हुई जहाँ उसने समान दक्षता के प्रदर्शन द्वारा उन्हें झुठलाते हुए द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकार दिया। किन्तु कृपाचार्य ने सूतपुत्र घोषित करते हुए उसे द्वन्द्व-युद्ध के अधिकार से वंचित कर अपमानित किया। दुर्योधन ने स्वाभाविक वैरवश उसे तत्काल अंग देश के सम्राट पद पर अभिषिक्त भी किया लेकिन बात न बन सकी और पाण्डवों के प्रति

उसके मनमें आखिर गाँठ पड़ ही गयी जिसका प्रभाव उसकी यशःकाया के अन्तकाल तक बना रहा।

कर्ण की दूसरी महत्वपूर्ण टक्कर घटोत्कच के साथ युद्ध-प्रसंग में हुई। यों तो विराट-नगर में भी अर्जुन के साथ कर्ण की मुठभेड़ हुई थी लेकिन उस युद्ध में स्थिति कुछ ऐसी विपरीत हो गई थी कि मजबूरन कर्ण को युद्धस्थल छोड़ देना पड़ा था। यही नहीं घटोत्कच के पहले भी उसे एक पराजय सहनी पड़ी थी। हुआ यह कि अर्जुन को लेकर अश्वत्थामा और कृपाचार्य से उसकी कहा-सुनी हो गयी। दुर्योधन के बीच में आ जाने से झगड़ा तो रफा-दफा हो गया लेकिन स्थिति नहीं सम्हल सकी। उसी समय पाण्डव और पांचाल वीर कर्ण की निन्दा करते हुए उस स्थान तक पहुँच गये। उन्होंने कर्ण को सारे अनर्थ की जड़ घोषित करते हुए मार डालने का प्रयत्न किया। लेकिन कर्ण को इस समवेत आक्रमण से थोड़ी-सी भी घबराहट नहीं हुई। उसने अपने तीक्ष्ण बाणों की मार से पाण्डव-सेना को आगे बढ़ने से रोक दिया तथा अपने नामाङ्कित बाणों से शत्रुओं को पूरी तरह बींध दिया। उस समय उसकी फुर्ती देखने योग्य थी। महाबली अर्जुन ने भी प्रबल क्रोध के आवेग में उसके ऊपर तीन सौ तीखे बाण छोड़े तथा दाहिने हाथ को बाणों से छेद डाला। फलस्वरूप कर्ण के हाथ से धनुष छूट कर गिर पड़ा लेकिन निमिष मात्र में ही उसने धनुष उठा लिया तथा बाणों की तीव्र वर्षा से अर्जुन को आच्छादित कर दिया। अर्जुन ने भी हंसते हुए उन बाणों के आच्छादन को तो काट ही डाला, चार भल्ल-प्रहार से कर्ण के चारों घोड़ों को यमलोक पहुँचा दिया। उस

समय भी कण्टक युक्त साही की तरह शरीर लिए कर्ण को कृपाचार्य के रथ में भाग कर शरण लेनी पड़ी थी।

किन्तु इन दोनों पूर्व पराजयों का परिणाम यह हुआ कि कर्ण निर्णायक युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गया। आचार्य द्रोण दुर्योधन के उपालम्भ के कारण भीषण संहार के लिए प्रतिबद्ध थे ही। उन्होंने एक दिन व्यूह-प्रवेश के साथ ही धृष्टद्युम्न, सात्यकि तथा सम्पूर्ण पांचाल योद्धाओं को बाणों से आहत कर डाला। अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर के देखते-देखते पाण्डव सेना आचार्य के प्रहार से पीड़ित हो हजारों मशालें फेंक-फेंक कर भाग खड़ी हुई। उस समय कुछ भी सूझ नहीं पड़ रहा था, केवल कौरव-सेना के दीपकों के प्रकाश से शत्रु भागते हुए दिखाई देते थे। आखिर, श्रीकृष्ण को स्वयं अर्जुन के साथ भागती हुई सेना को उत्साह जगा-जगा कर वापिस बुलाना पड़ा और भीमसेन के एक ओर से जुट आने पर जब दोनों सेना के अग्रभाग में खड़े हुए तो कर्ण ने आचार्य के साथ पुनः पाण्डव सेना का विकट संहार शुरू किया। पतंगों की तरह दोनों शत्रुपक्ष का संहार कर रहे थे और चारों तरफ अंधकार घना होता जा रहा था। धृष्टद्युम्न द्वारा रथ के घोड़ों के काटे जाने पर उसने तत्काल सारथि से दूसरे घोड़े जुतवाए और पांचाल महारथियों को इस प्रकार काटना शुरू किया कि पत्ता खड़कने पर भी उन्हें कर्ण के आ पड़ने का भय व्याप्त हो गया।

अर्जुन जैसा महारथी भी कर्ण के उस पराक्रम को देखकर घबड़ा गया और उसने कृष्ण से कहा—'मधुसूदन! महाराज युधिष्ठिर कर्ण का युद्ध देखकर घबड़ा गए हैं। अब इस समय कर्ण के वधार्थ जो भी कर्तव्य हो, करो।'

कृष्ण ने कहा—'अर्जुन ! तुमको और राक्षस घटोत्कच को छोड़कर इस समय कर्ण से जूझने वाला संसार में कोई नहीं है। अभी तुम्हारा उसके साथ युद्ध करना खतरनाक है क्योंकि उसने इन्द्र द्वारा प्राप्त एक देदीप्यमान शक्ति तुम्हारे लिए ही रख छोड़ी है। इसलिए इस समय दिव्य, राक्षस और आसुर तीनों शक्तियों से लैस घटोत्कच का ही उससे टकराना बुद्धिसंगत है।'

फलस्वरूप कृष्ण और अर्जुन द्वारा खूब समझा-बुझाकर घटोत्कच कर्ण पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। उसका शरीर बहुत बड़ा था, मुंह ताँबे जैसा और आँखें सुर्ख। पेट धंसा हुआ, कान खूंटी जैसे, ठोड़ी बड़ी और मुंह का छेद कान तक फैला हुआ था। दाढें तीखी, जीभ और होठ लाल, भौंहें बड़ी, नाक मोटी, रंग काला, कण्ठ लाल और देह पहाड़ जैसी भयंकर। विरूपाक्ष सारथि के साथ सौ घोड़ों के रथ पर वह साधारण ढंग से युद्ध करता था। कर्ण के साथ तो उसने सर्वाधिक भयंकर मायावी युद्ध किया। कभी वह भयंकर और अशुभ मुंह बनाकर कर्ण के दिव्यास्त्रों को निगल जाता था, कभी मैनाक पर्वत-सा आकार बनाकर कई अक्षौहिणी सेना पर एक साथ घहरा पड़ता था और कभी समुद्र की उत्ताल तरंगों की भाँति उछलकर ऊपर नीचे प्रवाहित होने लगता था।

यह भी देखा गया कि सहस्रों राक्षस सेनायें नाना प्रकार के अस्त्रों से युक्त विभिन्न दिशाओं से आने लगीं। घटोत्कच के आंजलिक बाण ने धनुष काट डाला। यही नहीं उसने कर्ण को कुछ समय के लिए छोड़ कृष्ण के संकेत पर कौरव-पक्ष से उठे अलायुध राक्षस को भी मार डाला और भैरव गर्जन करने लगा—लेकिन कर्ण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह अप्रतिहत

-युद्ध करता रहा और भारी शस्त्र-वर्षा को अपनी छाती पर झेलता हुआ द्वीप बनकर उस भीषण युद्ध-समुद्र में कौरवों की रक्षा करता हुआ घटोत्कच की माया का उच्छेद करता रहा।

किन्तु घटोत्कच भी तुला बैठा था। उसने उसके चारों घोड़ों को लक्ष्य कर एक शतघ्नी चलाई। भूलुंठित घोड़ों के दांत गिर गए, आंखें और जीभें बाहर निकल आईं और कर्ण रथ-हीन हो गया। कौरव चिल्ला-चिल्ला कर कर्ण से प्रार्थना करने लगे भाई, इसका तत्काल वध करो। आधी रात में भयंकर प्रतापी यह राक्षस हम सबको निगल जाएगा। हम लोगों में से जो भी इस भयंकर संग्राम से छुटकारा पा जाएगा, पाण्डवों से युद्ध कर लेगा।

फलत: क्रोधाभिभूत कर्ण ने वर्षों की संजो कर अर्जुन के लिए रखी हुई 'वैजयन्ती' नाम वाली इन्द्र की लपलपाती काल जिह्वा शक्ति घटोत्कच के ऊपर चला दी। रात्रि में प्रज्वलित होती हुई उस शक्ति ने राक्षस की सारी माया भस्म कर उसकी छाती में गहरी चोट की और उसे विदीर्ण कर नभ-मण्डल में समा गई।

इस प्रकार कृष्ण ने घटोत्कच को भिड़ाकर ऐसी परिस्थिति पैदा की कि 'वैजयन्ती' प्रहार से अर्जुन बच गए तथा उनके मारे जाने का एकमात्र अस्त्र नष्ट कर दिया गया। पुत्र होने के नाते इन्द्र की चालाकी से कर्ण का कवच और कुण्डल भी उससे माँग लिया गया था क्योंकि कवच और कुण्डल रहने पर उसे अर्जुन क्या, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यमराज भी युद्ध में पराजित नहीं कर सकते थे।

महाभारत-युद्ध के पहले ही इन्द्र एक दिन कर्ण के पास पहुँच गए थे और निस्संकोच उससे दिव्य कवच और कुण्डल की माँग कर बैठे थे। कर्ण के पास नकारने की कोई गुञ्जाइश नहीं

थी क्योंकि दरवाजे पर उपस्थित किसी भी याचक को वह वापिस नहीं कर सकता था—इन्द्र तो देवाधिदेव ही थे। सपने में अपने पिता सूर्य से चेतावनी पाने के बावजूद उसने कवच-कुण्डल देने में कोई आनाकानी नहीं की—केवल इतना ही कहा, 'देवेश्वर ! मेरे शरीर में कुण्डल और कवच अमृतमय हैं। यदि इन्हें मैं आपको दे दूँ तो बड़ी आसानी से शत्रुओं का वध्य हो जाऊँगा। आप अगर इन्हें लेना ही चाहते हैं तो इसके एवज में अपनी अमोघ शक्ति मुझे दे दीजिए जिससे मैं जरूरत पड़ने पर अपनी प्राणरक्षा करते हुए अपने प्रबलतम शत्रु का संहार कर सकूँ।'

इन्द्र ने थोड़ी देरतक इस पर विचार किया और तब कहा—'कवच और कुण्डल के एवज में मैं तुम्हें अपनी अमोघ शक्ति देता तो हूँ लेकिन इतना याद रखना कि भारी प्राणघाती संकट पड़ने पर ही इस शक्ति का उपयोग करना। यदि दूसरे शस्त्रों के रहते हुए प्राणान्त संकट उपस्थित होने के पहले ही तुम इस अमोघास्त्र का उपयोग करोगे तो यह तुम्हारे ही ऊपर पड़ेगी।' और तब कर्ण ने अपने शरीर से उधेड़कर कवच तथा कान से काटकर रक्तरंजित कुण्डल इन्द्र को समर्पित किया था।

कर्ण के लिए यह कल्पनातीत दुष्कर दान कोई नया कृत्य नहीं था। उसने तो इसी प्रकार कुन्ती के याचना करने पर पांडवों के लिए बचा कर रखे हुए अपने मंत्रपूत पाँच बाण भी दे दिए थे और कुन्ती को यह वचन भी दिया था कि सिवा अर्जुन के युद्ध में अन्य किसी पांडव की वह हत्या नहीं करेगा अर्जुन के मरने पर कर्ण सहित उसके पाँच पुत्र होंगे और यदि वह स्वयं मारा गया तब भी कुन्ती के पाँच पुत्र शेष रह जाएँगे।

भीष्म

महाभारत-काल का इतिहास एक से एक दृढ़प्रतिज्ञ, कर्तव्य-निष्ठ और सत्यव्रती राजपुरुषों से भरा हुआ है। पितामह भीष्म का स्थान इन योद्धा राजपुरुषों में अप्रतिम और सर्वोपरि है। उन्होंने बाल्यावस्था में ही ऋषि वशिष्ठ से वेदों का सांगोपाङ्ग अध्ययन प्राप्त कर लिया था। अस्त्रशिक्षा का अभ्यास पूरा कर वह देवराज इन्द्र के समान प्रतापी धनुर्धर हो चुके थे। शुक्राचार्य, देवगुरु बृहस्पति तथा भगवान परशुराम को अस्त्र विद्या का जितना ज्ञान था, वह सभी उन्हें सहज प्राप्त हो चुका था। वह भगवती गङ्गा के पुत्र थे तथा उनका बचपन का नाम देवव्रत था। उनकी जन्म-कथा भी कम लोमहर्षक नहीं है।

कहा जाता है कि एक बार इक्ष्वाकु वंश के प्रतापी राजा महाभिष राजसूय यज्ञ की समाप्ति के बाद समस्त देवताओं से घिरे हुए भगवान प्रजापति की सेवा में उपस्थित थे। उसी समय श्वेत वस्त्र धारिणी गङ्गा वहाँ प्रविष्ट हुई। हवा के झोंके से उनका आँचल थोड़ा खिसक आया था। अन्य सभी देवताओं ने तो अपनी आँखें झुका लीं लेकिन राजा महाभिष उधर अपलक देखते रहे। ब्रह्मा बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने महाभिष को तत्काल भूपात का श्राप दिया और कहा कि जिस गङ्गा को तुम देखते रहे हो, वही मृत्युलोक में तुम्हारा अप्रिय करेगी। तुम जब उस पर क्रोध करोगे तब तुम्हें इस शाप से मुक्ति मिलेगी। अभिशप्त महाभिष ने मृत्युलोक में प्रसिद्ध पुरुवंशी सम्राट राजा

प्रतीप के यहाँ पुत्र रूप में जन्म लेने का निश्चय किया। उधर गङ्गा जब प्रजापति के यहाँ से लौटीं तो रास्ते में अभिशप्त वसुओं से उनकी मुलाकात हुई। वसुओं को वशिष्ठ मुनि का श्राप लग चुका था क्योंकि उन लोगों ने प्रसिद्ध वसु द्यौ की पत्नी की विशेष आकांक्षा के कारण ऋषि वशिष्ठ की अनुपस्थिति में उनकी प्रसिद्ध धेनु नन्दिनी का अपहरण किया था। द्यौ पत्नी वसुओं के साथ नन्दिनी का दुग्धपान कर हजार वर्ष तक स्वस्थ यौवन भोगना चाहती थी लेकिन वशिष्ठ ऋषि नन्दिनी की पुनर्प्राप्ति के बाद भी उन्हें छोड़ें तब न। उन्होंने वसुओं को मनुष्य योनि में जन्म लेने का श्राप दिया और यह घोषणा की कि अन्य सातों वसु तो एक वर्ष में नर योनि से मुक्ति पा जाएँगे लेकिन यह द्यौ नामक वसु अपना कर्म भोगने के लिए बहुत दिनों तक मर्त्यलोक में पड़ा रहेगा।

गङ्गा को वसुओं की अभिशप्त एवं श्रीहीन स्थिति पर करुणा उमड़ आई। उन्होंने अपने गर्भ में धारण कर जन्मोपरान्त उन्हें मुक्त करना स्वीकार कर लिया। उधर राजा प्रतीप अपनी पत्नी के साथ गङ्गा-द्वार पर पुत्र-प्राप्ति के निमित्त तपस्या कर रहे थे। सिद्धि-काल में गङ्गा प्रकट हुईं और उन्होंने राजा प्रतीप को पुत्र-प्राप्ति की भविष्यवाणी के साथ ही यह भी सूचित किया कि वह उनके पुत्र की पत्नी बनने वाली हैं। राजा प्रतीप का वंश समाप्त हो रहा था। उन्होंने महामिष को जब वृद्धावस्था में पुत्र रूप में प्राप्त किया तो बड़े प्रसन्न हुए और उसका नाम 'शान्तनु' रखा। शान्तनु जब जवान हो गया तो एक दिन राजा प्रतीप ने उससे कहा—'तुम्हारे पास एक दिव्य स्त्री पुत्र की अभिलाषा से

आवेगी। तुम उसकी कोई जाँच-पड़ताल मत करना। वह जो कुछ करे, करने देना और उससे कुछ कहना मत।' ऐसा कहकर उन्होंने शान्तनु को गद्दी पर बिठाया और स्वयं अरण्यवासी हो गए।

राजर्षि शान्तनु कुछ समय बाद एक दिन जब शिकार खेलते खेलते गङ्गा तट पर पहुँचे तो उन्हें एक अतीव सुन्दरी रमणी का दर्शन हुआ। उस सुन्दरी को देखकर राजा शान्तनु विस्मय-विमुग्ध हो गए। उन्हें रोमांच हो आया। ऐसी कामासक्त दृष्टि से उसे देखने लगे जैसे नेत्रों से ही सम्पूर्ण रूपराशि पी जायेंगे। उन्होंने प्रेमनिवेदन करते हुए उस स्त्री से याचना की कि वह उन्हें पति रूप में स्वीकृत कर ले। सुन्दरी ने भी इस शर्त के साथ पत्नी होना स्वीकार किया कि विवाह के बाद वह जैसा चाहेगी, करेगी, राजा उसे रोकेंगे नहीं। अगर किसी दिन भी उन्होंने रोका तो वह उन्हें छोड़कर चली जावेगी।

यह सुन्दरी और कोई नहीं साक्षात् गङ्गा थीं जिन्होंने प्रकृति की गोद में राजर्षि शान्तनु से विवाह किया और क्रमशः आठ दिव्य पुत्रों को जन्म दिया। प्रत्येक पुत्र के जन्म-काल पर वह खिलखिला कर हँसती थीं और 'मैं जैसा चाहूँगी, करूँगी' कहते हुए शान्तनु के सामने ही नवजात शिशु को गङ्गा की तीक्ष्ण धारा में प्रवाहित कर देती थीं। इस प्रकार उन्होंने सात वसुओं को मनुष्य योनि से मुक्त कर दिया लेकिन आठवें पुत्र के जन्म-काल पर वह ऐसा न कर सकीं क्योंकि राजर्षि शान्तनु यह निष्ठुरता बर्दास्त न कर सके। उन्होंने क्रुद्ध होते हुए कहा,—'अरे पुत्रघ्नि ! क्यों इन बच्चों को मार डालती है ? कौन होती

है तूँ इन्हें मारने वाली ? न जाने किसकी कोख से पैदा हुई है। ला बच्चा मुझे दे दे !' गङ्गा ने हँसते हुए बच्चा पति को सौंप दिया और कहा, 'अब शर्त के अनुसार मेरा रहना नहीं हो सकता। मैं जह्नु की कन्या गङ्गा हूँ। देवताओं की कार्य-सिद्धि के लिए मैं इतने दिनों तक आपके साथ रही। मेरे ये आठों पुत्र अष्ट वसु हैं। ऋषि वशिष्ठ के शाप से इन्हें मनुष्य योनि में जन्म लेना पड़ा था। इतना कहकर गङ्गा उस दिन अपने पुत्र के साथ अन्तर्ध्यान हो गयीं। राजर्षि शान्तनु राजधानी वापिस आकर राज्य-व्यवस्था में ऐसे डूब गए कि उन्हें इस प्रसंग की स्मृति ही नहीं रही। प्रजा-पालन उनका व्यसन हो गया और सफल राज्य-व्यवस्था एक आदर्श। समय बीतता रहा—बीतता रहा और छत्तीस वर्ष का एक विस्तृत काल-खंड शेष हो गया। इस अवधि में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उन्होंने एक वनवासी जैसा जीवन व्यतीत किया।

एक दिन गङ्गा तट पर परिभ्रमण करते हुए उन्होंने देखा कि नदी में जल का तो कहीं पता ही नहीं है। उन्हें चिन्ता हुई और उन्होंने इसका कारण ढूँढना चाहा। पता लगाने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि एक मनस्वी, सुन्दर और विशालकाय कुमार अपने दिव्यास्त्रों का अभ्यास कर रहा है और उसने अपने बाणों के प्रभाव से गङ्गा की धारा रोक दी है। राजर्षि उससे मिलने के लिए समुत्सुक दीखे तब तक वह मायावी राजकुमार उन्हें मोहित कर अन्तर्ध्यान हो गया। राजर्षि ने भी गङ्गा से कुमार को दिखलाने का आग्रह किया। लेकिन जब गङ्गा अपने पुत्र का दाहिना हाथ पकड़े प्रकट हुई तो वह उस तेजोदीप्त कुमार को पहचान भी नहीं सके। गङ्गा ने कहा—'महाराज ! यही आपका

आठवां पुत्र है, जो मुझसे पैदा हुआ था। इसने वशिष्ठ ऋषि से साङ्गोपाङ्ग वेदों की शिक्षा प्राप्त कर ली है। धनुर्विद्या में यह देवराज इन्द्र के समान प्रतापी हो गया है। शुक्र और बृहस्पति के हिस्से का भी कुछ इसको अज्ञेय नहीं रहा। इस धर्मार्थनिपुण धनुर्धर बेटे को आप स्वीकार करें।'

राजर्षि शान्तनु इस सर्वगुण सम्पन्न पुत्र को प्राप्त कर अत्यधिक प्रसन्न हुए और राजधानी लौट कर शीघ्र ही उसे राज्याभिषिक्त कर दिया। गङ्गानन्दन देवव्रत ने भी अपने शील, वीरता और सदाचार से सारी प्रजा को मुग्ध कर लिया। यही नहीं, पिता के निषाद-कन्या सत्यवती के रूप पर मुग्ध हो जाने के बाद उन्होंने सभी सूत्र इकट्ठे किए थे और निषादराज की लोभपूर्ण दुस्सह शर्तों को स्वीकार कर पिता की शादी कराई थी। सत्यवती से उत्पन्न बेटे के युवराज पद की सुरक्षा के लिए उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी जिसके कारण लोग उन्हें 'भीष्म' कहकर पुकारने लगे।

राजर्षि की मृत्यु के बाद तो जैसे सत्यवती के पुत्रों की अंगरक्षा तथा प्रजा-पालन उनका एकनिष्ठ व्रत हो गया। सत्यवती के ज्येष्ठ पुत्र चित्राङ्गद की मान-रक्षा के लिए उन्होंने तीन वर्षों तक सरस्वती नदी के किनारे गन्धर्वराज से घमासान युद्ध किया। अन्त में जब चित्राङ्गद मारा गया तो उन्होंने सत्यवती के दूसरे पुत्र 'विचित्रवीर्य' को गद्दी पर बिठाया और फिर शुरू हो गया उसकी अंगरक्षा का गुरुतर व्यापार। विचित्रवीर्य के सयाने होने पर उन्हें उसके विवाह की चिन्ता हुई। उन्होंने काशिराज की स्वयंवर-सभा में भाग लेने का अवसर नहीं छोड़ा।

काशिराज की कन्याओं को तो पूरा वृत्तान्त मालूम नहीं था। वे उन्हें बूढ़ा समझ कर हँसती हुई आगे बढ़ गईं। कुछ दूसरे राजा लोग भी उनके बुढ़ापे पर चर्चा करते हुए उन्हें उपहास की दृष्टि से देखने लगे।

इस अवांछित व्यापार से भीष्म को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने तीनों कन्याओं को बलात् अपने रथ पर बिठाया और सभी राजाओं को एक साथ चुनौती देते हुए कहा—'क्षत्रिय और मुनिप्रवर स्वयंवर की बड़ी प्रशंसा करते हैं किन्तु आज ऐसा प्रसंग ही उपस्थित हो गया है कि मैं तुम लोगों के सामने इन तीनों कन्याओं का बलपूर्वक अपहरण करने के लिए विवश हूँ। तुम सभी अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुझे जीत लो या हारकर भाग जाओ।'

भीष्म की इस बात से चिढ़कर असंख्य योद्धा ताल ठोंकते और होंठ चबाते हुए उन पर टूट पड़े। एक साथ दस-दस हजार बाणों की बौछार होने लगी। लेकिन भीष्म तो भीष्म ही थे। क्रुद्ध योद्धा को रोकने की शक्ति किसी में नहीं थी। उन्होंने अपने अपूर्व हस्तलाघव-चमत्कार से हजारों धनुष, बाण, ध्वजाएँ, कवच और सिर काट डाले। अधिकांश खेत हो गए। जो बचे, देखते रह गए और भीष्म का रथ तीनों राजकन्याओं को लिए दिए हस्तिनापुर वापिस आ गया।

महाभारत के युद्ध-प्रसंग में तो पितामह भीष्म का पराक्रम पहले दिन से लेकर दसवें दिन के युद्ध की समाप्ति तक बराबर छाया रहा। शूरता में इन्द्र के समान, सहनशीलता में पृथ्वी के तुल्य और स्थिरता में हिमालय के सदृश उनका व्यक्तित्व दर्शनीय

था। उन्होंने दस दिनों में एक अरब सेना का अकेले संहार किया था। दुर्योधन से प्रतिदिन दस हजार पाण्डव-सेना के संहार की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी। दसवें दिन के युद्ध में तो उन्होंने अप्रतिम शौर्य का परिचय दिया था और यदि उन्हें उस दिन स्वेच्छया प्राणत्याग करने की कामना न हुई होती तो सम्भवतः सृष्टि की कोई शक्ति उन्हें धराशायी नहीं कर पाती।

इतना ही क्यों भगवान श्रीकृष्ण ने युद्धभूमि में अस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी लेकिन यह भीष्म ही थे जिन्होंने 'आजु हरिहू सों सस्त्र गहैहौं' के भीषण निश्चय द्वारा ऐसी युद्ध-स्थिति उत्पन्न कर दी कि कृष्ण को भी चक्रसुदर्शन उठाकर उनकी तरफ दौड़ना पड़ा। महाभारत का यह अकेला वृत्तान्त अपनी लोमहर्षक उपस्थिति के कारण पितामह भीष्म के अकूत बल, अप्रतिहत वेग और अद्भुत पराक्रम को टंकित करने में सर्वथा समर्थ है।

उस दिन अपराह्न काल में विजयी पाण्डव खुशी मना रहे थे, पितामह भीष्म एक तीव्रगामी रथ पर सवार असंख्य वाहिनी के साथ जब पाण्डव-सेना की ओर बढ़ते हुए दिखलाई पड़े। पाण्डवों के सजग होते-होते प्रलयकालीन दृश्य उपस्थित हो गया। मण्डलाकार धनुष से छूटे असंख्य विषधर पाण्डव सेना का विनाश कर रहे थे। उनका संचालन इतना तीव्र था कि पाण्डव वीर उन्हें हजार रूपों में देखने लगे। जिस तरफ दृष्टि घूमती थी, भीष्म ही नजर आते थे और एक क्षण तो ऐसा भी उपस्थित हो गया जब भीष्म भी नहीं, उनके धनुष से छूटे असंख्य बाण ही नजर आने लगे। यह इतना भयंकर युद्ध था कि उसमें दैववश पिता ने पुत्र को और पुत्र ने पिता को मार

डाला। पाण्डव सैनिक अस्तव्यस्त, कवच उतार कर रणभूमि से भागते हुए दिखाई देने लगे। ऐसा दृश्य देखकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उत्साहित किया और रथ को काटते हुए उन्हें भीष्म के सामने उपस्थित कर दिया। अर्जुन को देखते ही पितामह ने सिंहनाद किया और असंख्य बाणों के आक्रमण से श्रीकृष्ण सहित अर्जुन को एक घेरे में कैद कर दिया। श्रीकृष्ण रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए और बराबर घोड़ों को आगे बढ़ाते ही चले गए। अर्जुन ने भी अत्यन्त तीव्रता से अपना दिव्यास्त्र गाण्डीव उठाया और तीन बाणों से भीष्म का धनुष काट कर गिरा दिया। पितामह ने दूसरा महान धनुष धारण कर जैसे ही प्रत्यंचा चढ़ाई, अर्जुन ने उसे भी काट दिया। पितामह ने अर्जुन की ओर प्रशंसात्मक दृष्टि से देखा और झटके से तीसरा धनुष उठाकर बाणों की वर्षा करने लगे। भगवान श्रीकृष्ण ने भी अपने अश्व-संचालन की पूरी प्रवीणता दिखाई। वे रथ को शीघ्रतापूर्वक मण्डलाकार चलाते हुए पितामह के बाणों को विफल कर देते थे। तबतक भीष्म की आज्ञा से द्रोण, विकर्ण, जयद्रथ, भूरिश्रवा, कृतवर्मा, कृपाचार्य आदि भी मालवदेशीय योद्धाओं के साथ अर्जुन पर चढ़ आए। उन्हें उस अवस्था में देखकर वीर सात्यकि सहसा उस स्थान पर आ पहुँचा और उसने भागती हुई युधिष्ठिर की सेना को सम्बोधित किया—'क्षत्रियो! भागो नहीं। अपनी प्रतिज्ञा का ध्यान रखते हुए वीर धर्म का पालन करो। वापिस लौटो और चारों ओर से उमड़ी हुई इस कौरव वाहिनी का मुकाबिला करो।'

भगवान श्रीकृष्ण ने भीष्म की प्रचंडता के सामने जब पाण्डवों के प्रधान सेनापतियों को भागते और अर्जुन को युद्ध

में ठंढे पड़ते देखा तो उन्हें क्रोध आ गया। उन्होंने सात्यकि की प्रशंसा करते हुए कहा—'शिनिवंश के वीर! जो भाग रहे हैं, उन्हें भागने दो। जो खड़े हैं, वे भी चले जायें। तुम देखो, मैं स्वयं आज भीष्म और द्रोण को रथ से मार गिराता हूँ। आज कोई भी रथी मेरे हाथ से बचने नहीं पाएगा। मेरा यह उग्र चक्र आज भीष्म, द्रोण के साथ-साथ धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों का संहार कर अजातशत्रु युधिष्ठिर को प्रसन्न करेगा।'

इतना कहकर कृष्ण ने वल्गा छोड़ दी और हाथ में सुदर्शन चक्र लेकर रथ से कूद पड़े। उस चक्र का प्रकाश सूर्य के समान और प्रभाव वज्र के सदृश अमोघ था। उसके दांत छुरे के समान तीक्ष्ण थे। भगवान कृष्ण बड़े वेग से भीष्म की ओर झपटे। उनके पैरों की धमक से पृथ्वी कांपने लगी। एक क्षण के लिए उनके भयंकर नाद, रुद्र वेग और तीव्र पदाक्षेप से हाहाकार मच गया। उनके श्याम विग्रह पर हवा के वेग से फहराता पीताम्बर उनकी क्रोधाग्नि को हवा दे रहा था। वह चक्र प्रलयकालीन संवर्तक अग्नि की भांति विश्वसंहार को उद्यत था। भीष्म प्रसन्न भाव से धनुष्टंकार के बाद हाथ जोड़े उनकी प्रार्थना करने लगे। 'आइये, आइये, देवेश्वर! जगदाधार! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। चक्रचारी माधव! आज बलपूर्वक मुझे इस रथ से मार गिराइए। मेरा उद्धार कीजिए। आज स्वयं मुझे मारने आकर तीनों लोकों में आपने मेरा गौरव बढा दिया।'

उधर भगवान को आगे बढ़ते देख अर्जुन भी रथ से उतरकर उनके पीछे दौड़े और पास जाकर उनकी दोनों बाहें पकड़ लीं। रोष भरे कृष्ण फिर भी आँधी के वेग की भाँति अर्जुन को घसीटते हुए आगे बढ़ने लगे। तब अर्जुन ने बाहें छोड़ कर

पाँव पकड़ लिया। दसवें कदम पर पहुँचते-पहुँचते उन्हें किसी प्रकार रोका और जब कृष्ण खड़े हो गए तो अर्जुन ने प्रसन्न होकर उन्हें प्रणाम किया और कहा, "केशव! अपना क्रोध शान्त कीजिए। मैं भाइयों और पुत्रों की शपथ खाकर कहता हूं कि अब एक क्षण के लिए भी युद्ध में ढिलाई न आने दूँगा और प्रतिज्ञानुसार युद्ध करूंगा।" अर्जुन की इस प्रतिज्ञा से कृष्ण प्रसन्न हो गए और वापिस जाकर रथ में बैठ गए। इसके बाद तो उस दिन अर्जुन ने युद्ध में वह पराक्रम दिखाया कि दिग्गज थरथराने लगे। उन्होंने एक क्षण में भूरिश्रवा के बाण, दुर्योधन का तोमर, शल्य की गदा और भीष्म की शक्ति को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। आकाश में माहेन्द्र नामक अस्त्र प्रकट कर कौरव सेना को स्तब्ध कर दिया और दिव्यास्त्रों के प्रभाव से दिशाओं, उपदिशाओं की गति रुद्ध कर दी। उन बाणों से स्फुलिंगों की वर्षा हो रही थी जिसका परिणाम यह हुआ कि देखते-देखते कौरव सेना भस्म होने लगी और बाकी योद्धा जान बचाकर कौरव शिविर की ओर भाग खड़े हुए।

वैसे तो भीष्म मृत्यु पर्यन्त अद्वितीय रहे लेकिन उनका ऐतिहासिक शौर्य दसवें दिन के युद्ध में ही प्रगट हुआ जिस दिन उन्हें कालगति पहचान कर स्वेच्छया शर-शय्या का वरण करना पड़ा। इस युद्ध की स्थिति विचित्र थी। पाण्डव-व्यूह में उस दिन शिखण्डी सबसे आगे स्थित किया गया था। भीमसेन और अर्जुन उसके पहियों की रक्षा कर रहे थे। पिछले भाग की रक्षा के लिए अभिमन्यु नियुक्त थे। उनके पीछे सात्यकि और चेकितान खड़े थे। इन दोनों के पीछे पाञ्चाल योद्धाओं के साथ धृष्टद्युम्न था। फिर नकुल-सहदेव सहित राजा युधिष्ठिर और फिर

पाण्डव सेना के मध्य भाग की रक्षा करते हुए द्रुपद, केकय राजकुमार और धृष्टकेतु। इसी प्रकार कौरवों का संचालन कर रहे थे भीष्म। उनके पीछे थे दुर्योधन, उनके पीछे द्रोण और अश्वत्थामा। उनके पीछे हाथियों की विशाल सेना लिए भगदत्त और फिर कृपाचार, कृतवर्मा आदि अनेक धनुर्धर।

युद्ध का प्रारम्भ पाण्डवों ने किया। अर्जुन और भीमसेन शिखण्डी को आगे करके भीष्म के सामने आ डटे। प्रथम आक्रमण में भीमसेन का वेग अद्वितीय था। असंख्य कौरव सेना के सेनानियों का संहार होने लगा और तत्काल भगदड़ मच गयी।

सेना का यह संहार भीष्म से सहा नहीं गया। उन्होंने प्राणपण से युद्ध करना शुरू किया। पाण्डवों के पाँच महारथियों को रोक कर उन्होंने हजारों हाथी-घोड़ों को मार डाला। इस पर उत्तेजित होकर शिखण्डी ने भीष्म की छाती में तीन बाण मारे। उनसे पितामह को काफी चोट पहुँची फिर भी उन्होंने हँसते हुए कहा, 'तेरी जैसी इच्छा हो, मुझ पर बाण-प्रहार कर, मैं तुझसे किसी तरह युद्ध नहीं करूँगा।' शिखण्डी ने क्रोध पीते हुए कहा, 'महाबाहो! मैं तुम्हारा प्रभाव जानता हूँ फिर भी पाण्डवों का प्रिय करने के लिए मैं आपको जीता नहीं छोड़ूँगा। आपकी इच्छा हो युद्ध करें या न करें।' ऐसा कहकर उसने पितामह को पाँच बाणों से बींध डाला। अर्जुन ने भी शिखण्डी की बातें सुनीं। उसे उन्होंने और उत्तेजित किया और हजारों का संहार करते हुए पुनः भीष्म के सामने उपस्थित हो गये। गाण्डीव की टङ्कार सुनते ही कौरव योद्धा भाग खड़े हुए। दुर्योधन भय से व्याकुल होकर पितामह को उत्तेजित करने लगा। पितामह ने

उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'दुर्योधन ! मैंने जो तुमसे प्रतिज्ञा की है, उसे आज तक निभाता आया हूँ। आज भी वह महान् कार्य पूर्ण करूँगा। आज या तो मैं ही मर कर रणभूमि में शयन करूँगा या पाण्डवों को ही मार डालूँगा।' इतना कह कर उन्होंने अद्भुत वेग से आक्रमण कर पाण्डव-सेना के एक लाख वीरों का संहार कर डाला। पाञ्चाल महारथियों का तेज हर लिया और कुल दस हजार हाथी, दस हजार घोड़ों, उनके सवारों और पूरे दो लाख पदातियों का संहार करके वे धूम-रहित अग्नि के समान दीप्त होने लगे। किसी की शक्ति नहीं थी कि उनकी ओर आँख उठाकर देखे।

इस पराक्रम को देखकर अर्जुन ने शिखण्डी से कहा—'अब तुम भीष्म का सामना करो। उनसे तनिक भी डरने की जरूरत नहीं। मैं तुम्हारे साथ हूँ। बाणों से मारकर उन्हें रथ से नीचे गिरा दूँगा।' उत्साहित होकर शिखण्डी ने भीष्म पर धावा किया। साथ ही धृष्टद्युम्न और अभिमन्यु ने भी उन पर चढ़ाई की। विराट, द्रुपद, कुन्तिभोज, नकुल, सहदेव, युधिष्ठिर आदि अनेक योद्धाओं ने उन पर समवेत आक्रमण किया।

इसी बीच महान् धनुष लिए हुए द्रोणाचार्य सात्यकि, विराट और भगदत्त के बीच से निकलते हुए पाण्डव सेना के अग्रभाग में घुस आये। उन्होंने अश्वत्थामा से कहा—'बेटे ! आज अशुभसूचक-निमित्त उपस्थित हो गया है। आज अर्जुन पितामह को मारने के लिये अपनी पूरी शक्ति लगा देगा क्योंकि मेरे बाण उछल रहे हैं, धनुष फड़क उठता है, अस्त्र अपने आप धनुष से संयुक्त हो जाते हैं और मेरे मनमें क्रूर कर्म करने का सङ्कल्प हो रहा है। चन्द्रमा और सूर्य के चारों ओर घेरा पड़ने लगा है। यह क्षत्रियों

के भयङ्कर विनाश की सूचना देने वाला है। इसलिए तुम अविलम्ब अर्जुन का रास्ता छोड़कर भीष्म के रक्षार्थ उनके पास पहुँच जाओ। मैं युधिष्ठिर के पास जा रहा हूँ। दूसरे अर्जुन की तरह अभिमन्यु का पराक्रम भी अतुलनीय है। तुम पितामह के निकट पहुँच कर धृष्टद्युम्न और भीमसेन को रोकने की चेष्टा करो'।

अश्वत्थामा जब भीमसेन के पास पहुँचा, तो वह एक साथ भगदत्त, कृपाचार्य, शल्य आदि दस योद्धाओं के साथ अकेले युद्ध कर रहे थे। उन्होंने सबको आहत करने के साथ-साथ उस समय कृपाचार्य का धनुष काट डाला था। कृपाचार्य ने जैसे ही दूसरा धनुष उठाया उन्होंने उसे बाणों से आच्छादित कर दिया। जयद्रथ के सारथी और घोड़ों को यमलोक पहुँचा कर जयद्रथ का धनुष काट दिया। जयद्रथ भाग कर चित्रसेन के रथ में बैठ गया। दुर्योधन के संकेत पर सुशर्मा ने भीमसेन को घेर लिया। तब तक अर्जुन भी वहाँ पहुँच गये! फिर तो हाहाकार मच गया। अर्जुन-भीम का सम्मिलित पराक्रम दर्शनीय था। कौरव सेना घास-पात की तरह काटी जा रही थी। लेकिन भीष्म के ठीक सामने दृश्य कुछ दूसरा था। जब कौरवों के सहित भीष्म और पाञ्चाल वीरों के साथ अर्जुन युद्ध कर रहे थे, तो यह निर्णय करना कठिन था कि अन्ततः जीत किसकी होगी? भीष्म ने हजारों वीरों को उस समय भी धराशायी किया।

ठीक इसी बीच भीष्म के मनमें प्राणत्याग की इच्छा उत्पन्न हुई। उन्होंने निश्चय किया कि अब वह और वीरों का संहार नहीं करेंगे। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा—'बेटा! तुमसे एक धर्मानुकूल बात कहता हूँ। संहार करते-करते मैं अब इस शरीर से उदासीन हो गया हूँ। यदि तुम मेरा प्रिय चाहते हो तो अर्जुन और पाञ्चाल वीरों को आगे करके मेरे वध का प्रयत्न करो'।

भीष्म पितामह का आशय समझ कर सत्यदर्शी युधिष्ठिर ने अपनी सेना को ललकार कर, आगे बढ़ाया तथा पितामह पर समवेत आक्रमण करा दिया। शिखण्डी को लिए दिए अर्जुन भी पितामह पर टूट पड़े और थोड़ी देर के लिए फिर दुर्योधन-अभिमन्यु; द्रोण-धृष्टद्युम्न और अश्वत्थामा-सात्यकि आदि सभी आपस में भयंकर युद्ध करने लगे। अर्जुन ने जब पितामह पर शरसन्धान शुरू किया तो बीच में भगदत्त आ गये। उनको निपटा कर अर्जुन एक बार फिर शिखण्डी के साथ भीष्म पितामह के नजदीक आ गये। शिखण्डी बड़े उत्साह के साथ पितामह पर बाण बरसाने लगा।

भीष्म पितामह को एक बार फिर क्रोध आया। उन्होंने दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर अर्जुन के अनुयायी समस्त सोमक वीरों को देखते-देखते नष्ट कर दिया। अर्जुन और शिखण्डी के अतिरिक्त और किसी का उनके सामने ठहरना कठिन हो गया। शिखण्डी ने पितामह के सामने आकर उनकी छाती में दस बाण मारे किन्तु इस बार भी उसके क्लीत्व का विचार कर पितामह मुसकुरा कर रह गये। अर्जुन शिखण्डी को और भी उत्साहित करने लगे जिसके फलस्वरूप वह तरह-तरह के बाणों से पितामह को आहत करने लगा। तब तक दुःशासन ने फिर आकर दुहरा युद्ध शुरू कर दिया। एक ओर वह अर्जुन से युद्ध करता था और दूसरी ओर पितामह की रक्षा। उसका पराक्रम भी अद्भुत था। शह पाकर उसके अन्य साथियों ने भी मदद शुरू कर दी और अर्जुन के सामने फिर एक दीवार खड़ी हो गई। फिर भी दोपहर के कुछ पहले ही अर्जुन ने सभी योद्धाओं को पराजित कर रास्ता साफ कर लिया। तब तक पितामह स्वयं अपने दिव्यास्त्रों का

वेग लेकर अर्जुन पर चढ़ आये। यह देख
धावा किया। उसे देखते ही भीष्म ने
तेजस्वी अस्त्रों को समेट लिया। मौका प
को मूर्च्छित कर दिया और कौरवों का सं

पितामह को मूर्च्छित होते देखकर दुः
लेकर टूट पड़ा। पितामह भी सजग हो
आघात करने लगे। योद्धाओं के सकुण
आच्छादित हो गई। भीष्म ने परशुराम
शत्रुसंहारिणी अस्त्र विद्या का भरपूर उपयो
ने अर्जुन से कहा—'शान्तनुनन्दन भी
सेनाओं के बीच में खड़े हैं। अब तुम जोर लगा कर इनका वध करो। तभी तुम्हारी विजय होगी।' भगवान् की प्रेरणा से अर्जुन ने उस समय इतनी बाण-वर्षा की कि भीष्म, रथ, घोड़ों और ध्वजा के साथ उससे आच्छादित हो गये। परन्तु पितामह ने अपने बाण छोड़कर अर्जुन के बाणों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। शिखण्डी अपने उत्तम अस्त्रों के साथ बड़े वेग से पितामह पर झपटा। अर्जुन ने स्वयं तत्काल धावा किया और इनके साथ ही एक साथ सात्यकि, धृष्टद्युम्न, विराट, अभिमन्यु आदि अनेक वीरों ने पितामह को बींधना शुरू कर दिया। शिखण्डी को आगे कर शतघ्नी, परिघ, फरसा, मुगदल आदि अनेक अस्त्रों से प्रहार प्रारम्भ किया। भीष्म अकेले थे और उन्हें मारने वालों की संख्या अनेक। उनका कवच छिन्न-भिन्न हो गया। मर्म स्थानों पर पीड़ादायक चोट पहुँचती रही लेकिन वह विचलित नहीं हुए। पाण्डव पक्ष के छः महारथियों ने दस-दस बाणों से उनको बींध दिया। महारथी शिखण्डी ने बाणों का प्रबल प्रहार किया